प्रथम अध्याय : भारतीय संस्कृति एवं दर्शन

1.1 भारतीय संस्कृति : परिभाषा एवं स्वरूप

1.2 भारतीय संस्कृति : आर्य–आर्येत्तर संबंध

1.3 भारतीय दर्शन : स्वरूप

1.3.1 भौतिकवादी दर्शन

1.3.1.1 लोकायत दर्शन

1.3.1.2 बौद्ध दर्शन

1.3.1.3 जैन दर्शन

1.3.2 अध्यात्मवादी दर्शन

1.3.2.1 सांख्य दर्शन

1.3.2.2 योग दर्शन

1.3.2.3 न्याय दर्शन

1.3.2.4 वैशेषिक दर्शन

1.3.2.5 मीमांसा दर्शन

1.3.2.6 वेदांत दर्शन

1.3.2.6.1 अद्वैतवाद

1.3.2.6.2 विशिष्टाद्वैत

1.3.2.6.3 द्वैतवाद

1.3.2.6.4 द्वैताद्वैत

1.3.2.6.5 शुद्धाद्वैत

प्रथम अध्याय :

भारतीय संस्कृति एवं दर्शन

1.1 भारतीय संस्कृति

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः उसकी संस्कृति का विकास सामाजिक व सामूहिक रूप से ही होता है। किसी भी देश की संस्कृति उस देश की धरोहर होती है। मानव के व्यवहार को ही संस्कृति कहा जाता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द 'कृ' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय और सम् उपसर्ग जोड़ने से बना है। जिसका अर्थ है– किया गया कार्य, व्यवहार, आचरण आदि अर्थात् मानव जीवन के विकास और परिष्कार को ध्यान में रखकर किए गए क्रिया कलापों का लेखा–जोखा। संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर के अनुसार संस्कृति के अर्थ ''वि. स्त्री. सं. 1. शुद्धि, सफाई 2. संस्कार, सुधार 3. मानसिक विकास, सजावट 4. सभ्यता, शाइस्तगी 5. 24 वर्ण के वृत्तों की संज्ञा।''[1]

विद्वानों ने अपने मतानुसार संस्कृति की व्याख्या की है। सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार ''मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है। उसी को संस्कृति कहते हैं। अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य प्रकृति के साधनों का जिस रूप में प्रयोग करता है, उससे उसकी सभ्यता का निर्माण होता है, पर चिंतन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुंदर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो यत्न करता है। उसका परिणाम संस्कृति के रूप में प्राप्त होता है।''[2] इस प्रकार नवीन सृजनात्मक क्रिया जिसके द्वारा अपना तथा दूसरों का कल्याण हो, संस्कृति कहा गया है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, ''संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण प्रकार है। विचार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है, वही उसकी संस्कृति है।''[3] डॉ. राधाकृष्णन संस्कृति के विषय में उल्लेख करते हैं, ''संस्कृति वह ज्योति है जो एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को सौंपती है, जिससे राष्ट्रीय जीवन की परंपरा बनी रहे।''[4] डॉ. राधाकृष्णन संस्कृति को

राष्ट्र से जोड़ते हैं। रामधारी सिंह दिनकर संस्कृति को जिंदगी जीने का एक तरीका बताते हुए कहते हैं, ''यह (संस्कृति) जिंदगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों में जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं।''[5] 'भारतीय धर्म एवं संस्कृति' पुस्तक में रामजी उपाध्याय ने संस्कृति को इस प्रकार परिभाषित किया है, ''मानव स्वभावतः अपनी या प्रकृति की किसी रचना को पूर्ण मानकर संतोष नहीं कर लेता, बल्कि नित्य ही उसे पूर्ण या सुंदर बनाने का प्रयत्न करता रहा है। सुंदर बनाने, सुधारने और पूर्ण बनाने के प्रयत्न मनुष्य की बुद्धि और सौंदर्य की भावना के विकास का परिचय देते हैं। मनुष्य का यही विकास संस्कृति है।''[6] संस्कृति का संबंध संस्कारों से है इसलिए मनुष्य इसे सुंदर बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

संस्कृति की एक सुनिश्चित परिभाषा देना कठिन है। प्राचीन मानव वैज्ञानिक एडवर्ड टाइलर के अनुसार, ''संस्कृति अपने मानव शास्त्रीय अर्थ में उस सन्निकट परिकल्पना को कहते हैं, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि–विधान, रीति–रिवाज और अन्य व्यवहार और सामर्थ्य सम्मिलित हैं, जिन्हें मनुष्य अपने समाज से ग्रहण करता है।''[7] संस्कृति को जीने का ढ़ग बताया गया है, जो समय के साथ–साथ परिवर्तित होता रहता है। जीने का यह ढ़ग अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों से जुड़ा है। अतीत से यह ऊर्जा लेता है, वर्तमान इसे आकार देता है और भविष्य इसे उन प्रेरणाओं से जोड़ता है जो सपने ही नहीं दिखाती, सपनों के पूरा होने का आश्वासन भी देती है। इस प्रकार संस्कृति एक बौद्धिक क्रिया अथवा स्वरूप कही जा सकती है, जिसमें किसी देश, जाति या समाज का आचार–विचार, रहन–सहन, बोली, भाषा, वेशभूषा आदि सभी बातों का समावेश होता है। जिसे एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को सौंपती है। विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष एवं अपकर्ष संस्कृति द्वारा ही मापा जाता है। संस्कृति के प्रभाव से ही व्यक्ति को गृहस्थ, राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, कलात्मक एवं धार्मिक ऐसे समस्त कार्यों को करने की प्रेरणा प्राप्त होती है, जो व्यक्तिगत एवं सामूहिक विकास के लिए आवश्यक है। संस्कृति को साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान, सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक विश्वास किसी भी रूप में देखा जा सकता है।

भारतीय संस्कृति का स्वरूप

संस्कृति एक व्यापक शब्द है। यह मानव समूह के रीति रिवाजों व परंपराओं से निर्मित होती है। किसी भी संस्कृति का स्वरूप वहाँ की प्राकृतिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक परिस्थितियों एवं वहाँ के विद्वजनों तथा महापुरुषों की देन होता है। आज भारतीय संस्कृति जिस रूप में दिखाई दे रही है। वह आर्य एवं आर्येत्तर जातियों के सम्मिश्रण का फल है। डॉ. मंगलदेव शास्त्री पुस्तक 'भारतीय संस्कृति का विकास' में भारतीय संस्कृति के विषय में देश के विचारकों की तीन दृष्टि की चर्चा करते हुए पहली दृष्टि के विषय में कहते हैं, ''इस विषय में अत्यंत संकीर्ण दृष्टि उन लोगों की है, जो परंपरागत अपने–अपने धर्म या संप्रदाय को ही भारतीय संस्कृति कहते हैं, दूसरी दृष्टि उन लोगों की है, जो भारतीय संस्कृति को, भारतार्न्तगत समस्त सम्प्रदायों में व्यापक न मानकर, कुछ विशिष्ट सम्प्रदायों से ही सम्बद्ध मानते हैं..... तीसरी दृष्टि उन लोगों की है जो भारतीय संस्कृति को देश के किसी विशिष्ट एक या अनेक सम्प्रदायों से सीमित या बद्ध न मानकर, समस्त सम्प्रदायों में एकसूत्र रूप से व्यापक अतएव सबके अभिमान की वस्तु, काफी लचीली और सहस्र वर्षों से भारतीय परंपरा से प्राप्त संकीर्ण सांप्रदायिक भावनाओं और विषमताओं के विष को दूर करके राष्ट्र में एकात्मकता की भावना को फैलाने का साधन समझते हैं।''[8] इस प्रकार इन तीनों दृष्टियों में डॉ. मंगलदेव शास्त्री तीसरी दृष्टि को अनेक विषम समस्याओं का एकमात्र साधन मानते हैं। भारतीय संस्कृति का मूल उसकी बौद्धिक क्षमता है। इस वजह से इसका व्यवहार एक जीवंत व्यवस्था की भांति रहा है। समय–समय पर इसने आत्मचिंतन के माध्यम से स्वयं को परिष्कृत किया है। राष्ट्र का संवर्द्धन, पोषण एवं संरक्षण का दायित्व प्रत्येक नागरिक का होता है। भारतीय संस्कृति में समन्वय की भावना प्रबल है। भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता रही है कि उसने विविध सभ्यताओं, जातियों और संस्कृतियों को आत्मसात कर लिया। यह सभ्यताएँ जल–थल की सीमा को लांघ कर भारत आई किंतु प्रारंभिक टकराव के बाद भारतीय संस्कृति में घुल–मिल गई। डॉ. विश्म्भरनाथ पाण्डे के अनुसार, ''भारत की यह सांस्कृतिक समग्ररूपता ही इस देश की वास्तविक और अमर आत्मा है। अपने दीर्घकालीन इतिहास के अलग–अलग युग में परस्पर विरोधी तरीकों से, यह आत्मा अपने को प्रगट करती रही है।''[9] भारतवर्ष में

प्रत्येक भारतीय को अपनी श्रद्धा के अनुसार धर्म को अपनाने, अपने रीतिरिवाजों को मनाने एवं विचारों को प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। इसमें द्वैतवाद भी है और अद्वैतवाद भी। यहाँ साकार–निराकार दोनों की उपासना की जाती है। भारतीय संस्कृति में अध्यात्म, दया, ममता, उदारता, समन्वय, लचीलापन, ग्रहणशीलता, धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण, विविधता में एकता आदि गुण विद्यमान है।

संस्कृति और संस्कार परस्पर संबंधित हैं। व्यक्ति का संस्कार, उसकी संस्कृति को दर्शाता है। किसी व्यक्ति के आचार–विचार और व्यवहार से ही अन्य देशों में उसके देश की संस्कृति विषयक पहचान होती है इसलिए व्यक्ति में संस्कारों का विशेष स्थान होता है, उसका आचरण उसकी संस्कृति को दर्शाता है। किंतु संस्कृति हमेशा परिवर्तनशील होती है। ये संस्कार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होते हैं, और धीरे–धीरे इनके स्वरूप में परिवर्तन आ जाता है। ऐसा विभिन्न कारणों के परिणामस्वरूप होता है। इस विषय में डॉ. सच्चिदानंद सिन्हा कहते हैं, ''ऐसे परिवर्तन अगर संस्कृति के समन्वित संसार के विपरीत नहीं हों तो परंपरा के भीतर अंगीकार हो जाते हैं। लेकिन अगर ये बाकी तत्त्वों के संस्कार से बिल्कुल विपरीत हों तो या दूसरे तत्त्व भी प्रभावित हो अपने को बदलेंगे या इन्हें परंपरा से बाहर कर दिया जाएगा। अगर बदलाव के पीछे कोई शक्तिशाली और विजातीय प्रभाव हो तो पूरी संस्कृति भी नष्ट हो सकती है क्योंकि इसका अपने परिवेश से मेल नहीं बैठ पाएगा।''[10] कहने का तात्पर्य है कि संस्कृति निरंतर परिवर्तनशील है। किसी संस्कृति में यदि नए संस्कारों का समावेश हो रहा है तथा वहां के लोग बिना किसी आपत्ति के नई संस्कृति को ग्रहण कर रहे हैं, तो नई संस्कृति मूल संस्कृति में बदलाव ला देती है तथा नई संस्कृति यदि शक्तिशाली है और अपना प्रभुत्त्व कायम कराने में सफल हो जाती है, तो वह मूल संस्कृति को नष्ट भी कर सकती है। किंतु यदि नई संस्कृति मूल संस्कृति में घुल–मिल नहीं पाती तथा लोकमानस उसे अंगीकार नहीं करता, तो उसे नहीं अपनाया जाता।

हमारा सांस्कृतिक संकट विविध प्रकार का है। भले ही हमारी संस्कृति में विशेष गुण हैं, जो अन्य देशों की संस्कृति से हमें अलग करती है। फिर भी अपवादस्वरूप कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं या कटुसत्य हैं, जिन्हें स्वीकार करना पड़ता है। भारतवर्ष के साम्प्रदायिक

नेताओं की संकीर्णता या स्वार्थ की दृष्टि बहुत कुछ यहाँ के आदर्शों के विपरीत है। जिनके कारण विविध सम्प्रदाय, धर्मों और जातियों में भयंकर रक्तपात हो जाता है। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्दिता, पृथकता की भावना, भेदभाव की भावना, निम्न जातियों के साथ भेदभाव, दुराचरण आदि वर्तमान में विष की तरह व्याप्त है। सबसे बड़ी समस्या पश्चिमी संस्कृति का अंधानुकरण है। देश का युवा वर्ग ही नहीं बच्चे एवं बुजुर्ग भी पश्चिमी संस्कृति को अपनाकर गर्व का अनुभव करते हैं। डॉ. देवराज ने भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य प्रभाव को देखते हुए कहा है, ''पिछले ढ़ाई–तीन दशकों से अपने देश के दार्शनिक शोधकर्ता एवं शिक्षक क्रमशः पश्चिम की विचारधाराओं के प्रति आकर्षित होते गए हैं और उसी अनुपात में भारतीय दर्शन और संस्कृति के प्रति विरक्त या उदासीन।''[11] यह बड़ी विड़म्बना की बात है कि भारतीय दार्शनिक एवं शिक्षक पश्चिमी संस्कृति से विशेष प्रभावित हो रहे हैं। विदेशी संस्कृतियों के सतत प्रभाव में अपनी संस्कृति विलुप्त होती जा रही है।

भारतीय संस्कृति के स्वरूप में बहुत परिवर्तन आ चुका है। विविध संस्कृतियों के मेल से यहाँ की संस्कृति अत्यधिक प्रभावित हुई है, जिसके कारण इसमें विकृतियों का भी समावेश हो गया है। एक ओर हमारी बड़ी व्यावहारिक समस्या उस चुनौती से निपटना है, जो कट्टरवादी शक्तियों ने हमारी बहुलतानिष्ठ संस्कृति के सामने उपस्थित की है। हमें इस प्रलोभन से बचना है।

भारत में शूद्र कहलानेवाली भारतीय जाति के प्रति हमारी कठोर दृष्टि और व्यवहार में सामाजिक परिस्थितियों और संत–महात्माओं के आंदोलनों के कारण शनैः–शनैः होने वाला विकासोन्मुख परिवर्तन भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता का एक उज्ज्वल उदाहरण है। राजमल बोरा संस्कृति की निरंतरता को जीवित रखने में भक्ति साहित्य का महत्त्व बताते हुए कहते हैं, ''किसी देश की संस्कृति में निरंतरता यदि वर्तमान में भी रहती है और वह मिटती नहीं है, तो उसे पहचानने की आवश्यकता है। उसके रूप भले ही बदल जाए किंतु उसमें निहित अमूर्त भावना उस निरंतरता को जीवित रखती है। अतीत और वर्तमान संस्कृति के बल पर ही जुड़े रहते हैं। इसी को हमारे यहाँ सनातनता कहा गया है। भारत का अतीत यदि वर्तमान में सनातन रूप में समकालीन बना हुआ है। तो उसे भारतीय संस्कृति का

प्रधान लक्ष्य मानना चाहिए। अनादि, अनंत के प्रति भारतीय जनजीवन में जो प्रतिबद्धता पाई जाती है, उसको जीवित रखने में भक्ति साहित्य ने बहुत सहायता की है।''[12]

वर्तमान में नारी एवं दलित विमर्श प्रमुख चर्चा का विषय बना हुआ है। विद्वान आलोचक अपने–अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं तथा यथासाध्य उन्हें सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के अभिलाषी उसकी कठोर आलोचना करते हैं। किंतु यह कार्य भक्तियुग में आरंभ हो चुका था जब बौद्ध, जैन, शाक्त तथा वैष्णवों ने नारी तथा दलितों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। तत्कालीन समय में इनके पक्ष को उठाया और उन्हें ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया।

1.2 आर्य–आर्येत्तर संबंध

भारत के सांस्कृतिक विकास पर दृष्टि ड़ाली जाए तो यह स्पष्ट होता है कि यह विकास एक स्तर पर नहीं अपितु अनेक स्तर पर आगे बढ़ा है। एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक यह परिवर्तित होता रहा है। वैसे ही जैसे उत्तर और दक्षिण भारत में, पश्चिम और पूर्व में आर्य–द्रविड़ प्रतिरूप में बदलाव आया। 'संस्कृति के चार अध्याय' पुस्तक में रामधारी सिंह दिनकर प्रकाश डालते हैं, ''हिंदू संस्कृति का अविर्भाव आर्य और आर्येत्तर संस्कृतियों के मिश्रण से हुआ तथा जिसे हम वैदिक संस्कृति कहते हैं।''[13] आर्य–अनार्य संबंध के प्रश्नों को विभिन्न भारतीय एवं पश्चिमी विद्वानों ने उठाया तथा उन पर गंभीरता से विचार किया। प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर के शब्दों में घटनाओं का ऐतिहासिक क्रम कुछ इस प्रकार से प्रतीत होता है, ''सिंधु घाटी सभ्यता ह्रास ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में हुआ और जब आर्यों ने भारत के उत्तर–पश्चिम में प्रवेश किया तब (1500 ई० पू०) तक वह लगभग पूरी तरह विघटित हो चुकी थी। आर्य या इंड़ो आर्य जोकि इंड़ो यूरोपियों के वंशज थे – कुछ समय तक बैक्ट्रिया में और उत्तरी ईरानी पठार पर रहे, परंतु 1500 ई० पू० के आसपास तक वे हिंदूकुश के दर्रों से होकर उत्तरी भारत में प्रविष्ट हुए।'[14] ऐसे विद्वानों में डॉ. मोतीचंद भी हैं, जो आर्यों के विषय में

टिप्पणी करते हैं, ''आर्यों का आदि स्थान कहाँ था इस प्रश्न पर तो काफी बहस रही है लेकिन इतना तो निश्चित जान पड़ता है कि आर्य भारतवर्ष में और पश्चिम एशिया में एक साथ प्रविष्ट हुए और ईरानी और भारतीय आर्य करीब 2500 ई० पू० में अलग हुए। भारतीय आर्यों ने इस देश में 2000 ई० पू० और 1400 ई० पू० के बीच अफगानिस्तान और हिंदूकुश के रास्ते से प्रवेश किया और सबसे पहले वे सिंधुघाटी की उपरली घाटी में बसे, बाद में धीरे–धीरे आगे बढ़ते हुए गंगा घाटी में बसे।''[15] भारतीय चिंतक रामधारी सिंह दिनकर आर्य और द्रविड़ या आर्येत्तर विषयों के संबंध में मत देते हैं, कि इस संबंध में कुछ भी कहा जाए उसे अनुमान ही मानना चाहिए, ''यदि दक्षिण भारत का आर्यों से पहले का इतिहास कुछ ज्ञात होता, तो कठिनाई इतनी नहीं रहती। किंतु, जैसा डॉ. नीलकंठ शास्त्री ने लिखा है, ''जैसे उत्तर भारत का इतिहास आर्यों के आगमन के साथ आरम्भ होता है, वैसे ही दक्षिण भारत का इतिहास आर्यों के दक्षिण आगमन के बाद से ही मिलने लगता है।''[16] किसी प्रमाणिक जानकारी के अभाव में आर्य संबंधी विषय केवल अनुमान पर आधारित है।

भारतीय चिंतक के. दामोदरन अपनी पुस्तक 'भारतीय चिंतन परंपरा' में आर्यों को बार–बार आक्रमणकारी आर्य कहकर संबोधित करते हैं, ''ये बर्बर आक्रामक जिन्होंने नगरों को नष्ट किया था अपने को आर्य कहते थे, जिसका अर्थ था कुलीन अथवा उच्चकुलवाले। वे अपने को उन लोगों से उच्च और श्रेष्ठ समझते थे जिनको उन्होंने परास्त किया था x x x x x x मूल निवासियों को आर्य मलेच्छ अथवा दस्यु अथवा दास कहकर पुकारते थे।''[17] 'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' पुस्तक में रामविलास शर्मा भारतीय इतिहास के विषय में जानकारी देने वाली एक पुस्तक जो महेंद्रसिंह रंधावा और जान कैनेथ ग्रेलबेथ ने भारतीय चित्रकला पर 'इण्डियन पेंटिग्स, द सीन, थीम्स एण्ड लीज़ेण्ड' नाम से लिखी, जो 1968 में अमेरिकी नगर बोस्टन से प्रकाशित हुई, से आर्य संबंधी विषय में उद्धृत करते हैं, ''प्रथम सहस्राब्दी ईसापूर्व के मध्य में भारत पर घुमंतू आर्य कबीलों ने आक्रमण किया। वे इण्डो यूरोपियन समुदाय की शाखा थे। ये समुदाय यूराल पर्वतमाला के दक्षिणी मैदानों से यूरोप, ईरान और मध्य एशिया पहुँचा। मध्य एशिया से वह अफगानिस्तान और भारत में पहुँचा। ये कबीले विनम्रता से स्वंय को आर्य अथवा श्रेष्ठ 'नोवलवंस' कहते थे।''[18] खानाबदोश घुमंतू कबीलों को विनम्रता वश

आर्य कहना एक मौलिक व्यंग्य माना है। आर्य नस्ल में श्रेष्ठ एवं उच्च हैं। ये आर्य लोग गोरे और ऊँचे कद के थे। नख–शिख दुरुस्त था और नासिकाएँ उभरी हुई थी। इसके बाद आर्यों की व्यंग्यविहीन आलोचना करते हुए लेखक कहते हैं, ''ये लोग बड़बोले और डींग हाँकनेवाले थे। यहाँ की आदिवासी द्रविड़ जनता से वे घृणा करते थे और समझते थे कि इनके साँवले रंग के लिए इन्हें दण्ड मिलना चाहिए। आर्य लोग अपने घोड़ों और हल्के रथों की गतिशीलता के कारण जीत गए। उनके विरोधी भोंड़े हाथी लिए उनका मुकाबला कर रहे थे।''[19] आर्यों के व्यक्तित्व के साथ–साथ उनके चरित्र का भी वर्णन किया है, उन्हें पक्षपाती बताया है।

शरदेंदु अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति के सोपान' में आर्य–अनार्य संबंधी विचारों को प्रकट करते हैं, ''आर्यों को अब उत्तरी भारत के मूल निवासियों से संघर्ष करना था जो अनार्य थे। जिनको आर्य लोग हेय समझते थे। इन अनार्य जाति को पणि और दास कहा गया है। पणि दुखदायी थे क्योंकि वे पशुओं को चुरा ले जाते थे, और पशु ही आर्यों की मुख्य संपत्ति थे। इसके अतिरिक्त पणि विचित्र देवताओं की पूजा करते थे।''[20] आर्यों के आगमन को एक पिछड़ा कदम बताते हुए शरदेंदु कहते हैं, ''हडप्पा संस्कृति आर्यों की संस्कृति से बहुत उन्नत थी। आर्य लोग अब भी नागर सभ्यता से पूर्व की स्थिति में थे। उत्तरी भारत को अब फिर ग्रामीण जीवन से निकलकर नागरिक संस्कृतियों के विकास से गुजरना पड़ा।''[21] के. दामोदरन भी इस बात को स्वीकार करते हैं, ''ऋग्वेद से पता चलता है कि दस्युओं की संस्कृति आर्य संस्कृति से ऊँचे किस्म की थी। दस्युओं के किले बहुत मजबूत बताए गए है। उनके धार्मिक विश्वास अत्यंत उन्नत प्रतीत होते हैं क्योंकि उनके देवता आर्यों के देवताओं के समान मुख्य रूप से प्राकृतिक शक्तियों के ही प्रतिनिधि नहीं थे। वे शिव, देवी माता, लिंग और पवित्र ऋषभ (बैल) की पूजा करते थे।''[22] आर्य–अनार्य लोगों की पूजा पद्धति एवं देवताओं में भिन्नता थी। ''आर्य लोग आर्येत्तर लोगों में प्रचलित लिंग पूजा को प्रायः बड़ी घृणा के साथ उल्लेख करते थे, ''वे जिनका देवता लिंग है हमारे घर में न घुसने पायें।''[23] परंतु धीरे–धीरे आर्यों ने आर्येत्तर संस्कृति को अपनाया। अनेक विद्वानों के मतानुसार जब आक्रमणकारी आर्य भारत में आए तो वह बर्बर अवस्था में थे। उनकी संस्कृति भी उच्च कोटि की नहीं थी, किंतु

सिंधु घाटी सभ्यता के लोग जो भारत के मूल निवासी थे, उन्हें आर्यों ने म्लेच्छ तथा दस्यु कहा। लोहे के शस्त्रों का प्रयोग कर उन्होंने दस्युओं पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित किया।

आर्य–आर्येत्तर संबंधी विषय पर मतभेद सदा बना रहता है, क्योंकि विविध इतिहासकारों एवं चिंतकों के अपने–अपने मत हैं, सभी अनुमान एवं उद्धरणों की सहायता से अपने मत को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। दूसरी ओर, एक अन्य मतानुसार, विभिन्न विद्वान ये भी मानते हैं कि आर्य लोग बाहर से नहीं आए थे, अपितु भारत के मूल निवासी थे। प्रो. अविनाशचन्द्र दास वैज्ञानिक तथा ऋग्वेद के अध्ययन एवं चिंतन के आधार पर मत प्रकट करते हैं, ''आर्य लोग बाहर से नहीं आये थे, वे सप्तसिंधु प्रांत के मूल निवासी थे। आर्यों की सभ्यता एक हजार पाँच सौ वर्ष पुरानी नहीं बल्कि 20 से 25 हजार वर्ष पुरानी है।''[24] 'भारत का इतिहास' पुस्तक में रोमिला थापर भी एक जगह स्वीकार करती हैं, ''आर्यों के आगमन की बात करना त्रुटिपूर्ण है। किंतु प्राचीन भारत के ऐतिहासिक अध्ययनों में यह त्रुटि इतनी अधिक प्रचलित हो चुकी है कि आर्यों को आर्यभाषी लोग कहना अनुचित रूप से पांडित्य का प्रदर्शन होगा।''[25] आचार्य दिनकर भी स्पष्ट करते हैं कि ''ऋग्वेद में ऐसा कण भर भी प्रमाण नहीं है जिससे यह कहा जा सके कि आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया अथवा जीता था। किंतु संस्कृत और तमिल के प्राचीन साहित्य से यह बात लक्षित होती है कि संस्कृत भाषी आर्य, आरंभ में विंध्य से उत्तर तक ही सीमित थे। विंध्य के दक्षिण में वे लोग बसते थे जिनकी भाषा संस्कृत नहीं थी।''[26] आर्यों तथा अनार्यों के बीच वर्गविभाजन का रूप मूलतः सामाजिक और आर्थिक था। आर्य शब्द किसी धर्म अथवा जाति का बोधक नहीं है। अमरीकी मनोवैज्ञानिक तथा पुरातत्त्ववेत्ता डॉ. जे. मार्क केनोयर के अनुसार ''समाज के सुसभ्य और सुसंस्कृत लोग आर्य कहे गए और दबे और पिछड़े लोग अनार्य। उस काल में उच्च वर्ग एक–दूसरे को आर्य कहकर ही संबोधित करते थे। उनकी पत्नियाँ भी अपने पतियों को आर्यपुत्र कहकर संबोधित करती थीं।''[27] इस प्रकार आर्य–अनार्य को मात्र संबोधन का शब्द माना है। उच्च वर्ग के लोग आर्य तथा पिछड़े वर्ग के लोग अनार्य कहे जाते थे। इसी प्रकार 'भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व' पुस्तक में सोती वीरेंद्र चंद्र स्पष्ट करते हैं, ''मूल आर्यों की उत्पत्ति स्थान आर्यावर्त्त ही है। आर्यावर्त्त या भारत उनकी मूल भूमि है। आर्यों की तपः एवं आवास स्थली भारत में

सप्तसैन्धव प्रदेश माना जाता है। आर्य भारत में बाहर से आए और आर्य विजेता तथा मूल निवासियों के मध्य युद्ध हुआ। ये सब विदेशी विद्वानों के मस्तिष्क की उपज एवं भ्रम है। इस भ्रांत धारणा को भारतीय इतिहासकार भी स्वीकारने लगे।''[28] कथनानुसार आर्यों का भारत के बाहर से आगमन तथा यहाँ आकर उनका मूल निवासियों से युद्ध एकदम भ्रामक माना है। आर्यों को संपूर्ण भारतीय मानते हुए, उन्होंने जाति विषयक अपने विचारों को प्रकट करते हुए लिखा है, ''इसी प्रकार दस्यु जाति के विषय में भी भ्रांति है दस्यु कोई पृथक जाति नहीं है। दस्यु से अभिप्राय दुर्जन या दुष्कर्म करने वालों से है। 'आर्य' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ कर्म वाले पुरुष से है। आर्यों में जो भारतीय आर्य परम्परा से दूर हो गए या अपने दुराचरण के कारण दुर्जन पुरुष घोषित कर दिए गए, उन्हें उनकी वर्ण व्यवस्था से च्युत कर दिया गया। वे ही दस्यु कहलाए। इस प्रकार आर्य–दस्यु का भेद कर्मों के कारण है जाति के कारण नहीं।''[29]

यहाँ विद्वानों में विभेद है। विद्वान आर्य–अनार्य संबंध को लेकर एक मत पर नहीं पहुँचते। अलग–अलग विचारधाराओं के विद्वानों में मतभिन्नता हो सकती है। किंतु एक ही विचारधारा के विद्वान इतिहासकार, साहित्यवेत्ता अलग–अलग मत रखें तो विषय बेहद विवादास्पद हो जाता है। जैसा कि आर्य–अनार्य संबंध में है। आर्य बाहर से आए या यहाँ के मूल निवासी थे? ये प्रश्न इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है कि उनका यहाँ साहित्यिक एवं सांस्कृतिक योगदान क्या था? भारतीय इतिहास में आर्य–अनार्य संबंधी विवाद के बीच योगदान का उल्लेख उपेक्षित हो जाता है। आर्यों या अनार्यों ने संस्कृति और सभ्यता के संवहन में कितना गंभीर योगदान दिया। दर्शन, इतिहास, सभ्यता, निर्माण, कला, साहित्य के विकास में आर्यों की क्या भूमिका थी। बाह्य अथवा मूल निवासी का प्रश्न इतिहास अध्येताओं के लिए महत्त्वपूर्ण है लेकिन उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण इनके योगदान की विवेचना है।

1.3 भारतीय दर्शन

प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन करने पर यहाँ दो वैचारिक मान्यताएँ ज्ञात होती हैं। एक विचारधारा के प्रतिनिधि थे आर्य और दूसरी के अनार्य। वाचस्पति गैरोला अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन' में स्पष्ट करते हैं कि ''आर्य समूह वैदिक धर्म का अनुयायी था और अनार्य समूह भौतिक मान्यताओं पर विश्वास करता था।''[30] 'भारतीय चिंतन परंपरा' पुस्तक में के. दामोदरन के अनुसार ''वर्गों के उदय से पूर्व आर्यों के समाज में जो धर्म प्रचलित था, उसे वैदिक धर्म कहा जाता है। यह विश्वासों और कर्मकाण्ड़ों की एक जटिल व्यवस्थावाला धर्म था। यह प्रकृति पूजा का एक आदिम रूप था।''[31] इस प्रकार भारतीय दर्शन का दो भागों में वर्गीकरण हो जाता है, एक भौतिकवादी विचारधारा तथा दूसरी आध्यात्मिक विचारधारा।

भारतीय दर्शन की निष्पत्ति 'दृश' धातु में करण् अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाकर हुई है। जिसका अर्थ होता है 'जिसके द्वारा देखा जाए'। कुछ ऐसी भी वस्तुएँ होती हैं जिन्हें हम बंद आँखों से नहीं देख पाते उनके लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता होती है। वाचस्पति गैरोला कहते हैं, ''इस सूक्ष्मदृष्टि या तात्त्विक बुद्धि का दूसरा नाम प्रज्ञाचक्षु, ज्ञानचक्षु या दिव्यदृष्टि है। इस मत में दर्शन का अर्थ हुआ 'जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाए। गीता में श्रीकृष्ण ने अपना विश्वरूप दिखाने से पहले अर्जुन को दिव्यचक्षु दिए थे।''[32] प्राचीन दार्शनिकों ने प्रकृति के रहस्यों को समझने के लिए अपने मत एवं वाद प्रस्तुत किए। ''प्राचीनों के अनुसार दर्शन तत्त्वज्ञान है और आत्मज्ञान या अन्वेक्षण। दर्शन की प्रमुख शाखा ज्ञान मीमांसा है जो ज्ञान के स्वरुप एवं साधनों पर विचार करती है।''[33] विभिन्न विद्वानों ने दर्शन को अनेक रूपों से परिभाषित किया है, विविध मत रहे हैं।

आदिकालीन आर्यों ने प्रकृति जिज्ञासा संबंधी अनेकों प्रश्न उठाए हैं। उनका उत्तर ढूँढ़ने के लिए वे प्रयत्नशील रहे। ''यह ब्रह्माण्ड क्या है? यह कैसे अस्तित्व में आया? इसके पीछे कौन सी शक्ति है? क्या हमारे चारों ओर के परिवर्तनशील जगत् से परे कोई अपरिवर्तनशील और शाश्वत वस्तु है?''[34] इसके अतिरिक्त सूर्य, मेघ, विद्युत, वर्षा, जन्म, मृत्यु आदि संबंधी प्रश्न आर्यों को विचलित करते थे। ''निद्रा और जागृति के बीच क्या अंतर था?

क्या मृत्यु पर विजय पायी जा सकती थी? और जीवन को अनश्वर बनाया जा सकता है? क्या मृत्यु के बाद भी जीवन हो सकता था? एक मृत शरीर और जीवित शरीर में वास्तव में क्या अंतर था? ये प्रश्न आदिकालीन आर्य बार–बार अपने से पूछते थे।''[35] सत्य और ज्ञान की खोज करना, उसके वास्तविक स्वरूप का पता लगाना तथा उसे समझने की कला ही दर्शन है। जिज्ञासावश आर्यों ने जगत् एवं जगत् से परे, दृश्य एवं अदृश्य संबंधी विषयों पर विचार किया। अपने–अपने मत एवं वाद दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किए गए तथा ये वाद किसी ठोस तर्क पर आधारित थे।

भारतीय दर्शन को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है 1. भौतिकवादी दर्शन 2. अध्यात्मवादी दर्शन। जिसे आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन भी कहा जाता है। आस्तिक वह माना जाता था जो यह विश्वास करता था कि परलोक है। नास्तिक दर्शन में परलोक को अस्वीकार किया गया है। किंतु आगे चलकर वेदों की सत्ता को मानने वाली प्रणाली आस्तिक कहलाने लगी। नास्तिक दर्शन वेदों की सत्ता को नहीं मानते थे। वेदों के प्रति दृष्टिकोण ही इस वर्गीकरण का मूल आधार माना गया है। के. दामोदरन के अनुसार ''वे दार्शनिक जो आत्मा को प्राथमिक और संसार को एक अथवा दूसरे रूप में सृष्टिकर्ता का कौशल मानते हैं, अध्यात्म के शिविर के दार्शनिक माने जाते हैं।''[36] भारतीय भौतिकवादी दर्शनों में लोकायत, बौद्ध तथा जैन दर्शन आते हैं तथा अध्यात्मवादी दर्शनों में सांख्य, न्याय, योग, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदांत दर्शन आते हैं। वाचस्पति गैरोला भारतीय दर्शन की विशेषता स्पष्ट करते हुए कहते हैं, ''जहाँ तक भारतीय दर्शन का संबंध है, उसके अनेक संप्रदाय, मत, पंथ, सिद्धांत और वाद एक ही आत्मप्राप्ति के उद्‌देश्य को लेकर आगे बढ़े हैं।''[37]

1.3.1 भौतिकवादी दर्शन

भौतिक का अर्थ है कि मूर्त अथवा दृश्यनीय। भारतीय भौतिकवादी दर्शनों में लोकायत, बौद्ध तथा जैन दर्शन आते हैं। भौतिकवादी दर्शन में सृष्टि के भौतिक संदर्भ पर

विशेष बल देते हुए महत्त्व दिया जाता है। यह दर्शन नास्तिकवादी दर्शन है। यह अनीश्वरवादी दर्शन, परलोक में विश्वास नहीं करता। यह आत्मा की अपेक्षा प्रकृति को प्राथमिकता देता है। इस दर्शन में परमतत्त्व ईश्वर की उपेक्षा तो होती ही है, आत्मा का स्वरूप भी तिरोहित हो जाता है। इस दर्शन का उत्कर्ष रूप उस समय सामने आता है, जब कर्म की प्रधानता रेखांकित की जाती है।

1.3.1.1 लोकायत दर्शन

लोकायत दर्शन के प्रणेता चार्वाक ऋषि को माना जाता है। के. दामोदरन के अनुसार ''ई० पू० आठवीं और छठी शताब्दी के मध्य भारत में अनेक भौतिकवादी दार्शनिक विचारधाराओं से ही लोकायत अथवा चार्वाक दर्शन का उदय हुआ।''[38] 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास पुस्तक' में हरिदत्त वेदालंकार ने इसका प्रवर्तक बृहस्पति ऋषि को माना है और इस दर्शन की विचारधारा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, ''अध्यात्मवाद निरा ढ़कोसला है, जगत् में आँखों से दिखाई देने वाले, भूमि, जल, अग्नि और वायु चार ही तत्त्व हैं।''[39]

'चार्वाक' शब्द को लेकर आधुनिक इतिहासकारों एवं दार्शनिकों में मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार ''संसार खाने–पीने तथा मौज उड़ाने (चवर्ण) के लिए है। इस दृष्टि से चार्वाक, किसी व्यक्ति विशेष का नाम न होकर उस सारे सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो पुनर्जन्म और देवतावाद के विरोधी थे।''[40] चार्वाक शब्द के विषय में इस दर्शन के विरोधी अपना मत उसके अनुयायियों के प्रति रखते हैं कि चार्वाक ''उसके अनुयायियों के लिए गाली तथा अपमान के अर्थ में प्रयुक्त किया है।''[41] के. दामोदरन के अनुसार ''चार्वाक शब्द की व्युत्पत्ति दो शब्दों चारू (सुंदर अथवा आकर्षक) और वाक् (शब्द) से हुई; यह इस बात का द्योतक है कि चार्वाक दर्शन को मानने वाले अपने कौशलपूर्ण तर्कों से भोले–भाले लोगों को आकर्षित करते थे और उन्हें भौतिकवादी बना लेते थे।''[42] इसको लोकायत दर्शन भी कहा गया, क्योंकि सामान्य जनों ने इसे बड़ी रूचि से अपनाया। लोकायत

का यह अर्थ भी लिया गया है कि यह दर्शन की एक ऐसी प्रणाली है ''जो इस लोक में विश्वास करती है और स्वर्ग, नरक अथवा मुक्ति की अवधारणा में विश्वास नहीं करती।''[43] कुछ विद्वानों के अनुसार महाभारत में वर्णित चार्वाक नामक ऋषि द्वारा प्रवर्तित होने पर इस दर्शन का नाम 'चार्वाक' रखा गया।

चार्वाक अनुमान को प्रमाण नहीं मानता, इसलिए वह ईश्वर, आत्मा, परलोक के अनुमान को स्वीकार नहीं करता। मोक्ष, धर्म और अधर्म तथा पाप–पुण्य के भेद को नहीं मानता। पुरोहितों और उनके कर्मकांडो की तीव्र निंदा करता है। चार्वाक के अनुसार, ''देखना ही विश्वास करना है, कुछ अग्नियों को देखकर यह धारणा बना लेना के जहाँ–जहाँ आग है, वहाँ–वहाँ धुँआ है, उचित नहीं; क्योंकि आग से धुँआ देखकर उनमें कार्य–कारण संबंध स्थापित करने में कभी–कभी गलती हो जाती है क्योंकि गीली लकड़ी, जो उपाधि है और जिसके कारण धुँआ है उसकी उपेक्षा कर दी जाती है।''[44] चार्वाक दर्शन एक यथार्थवादी दर्शन है, जो अनुमान को स्वीकार नहीं करता अपितु प्रत्यक्ष में विश्वास रखता है।

चार्वाक को छद्मवेशी राक्षस कहा गया है। महाभारत में ''कुरुक्षेत्र की लड़ाई के बाद जब पाण्ड़व विजय समारोहपूर्वक घर वापस लौट रहे थे तब युधिष्ठिर को आर्शीवाद देने के लिए ब्राह्मण नगर द्वार पर इकट्ठा हुए। चार्वाक इन ब्राह्मणों में से एक था। उसने आगे बढ़कर राजा से कहा वह ब्राह्मणों का जमाव तुम्हें कोस रहा है क्योंकि तुमने अपने बंधुओं को मारा है। अपने ही आदमियों का नाश करके, अपने ही बड़े–बूढ़ों का खून बहाकर तुम्हें क्या मिल गया? चार्वाक का यह उद्‌गार अप्रत्याशित था और सब ब्राह्मण उसे सुनकर स्तब्ध रह गए। युधिष्ठिर को भी उसने मार्मिक रूप से आहत किया और उसके मन में आया कि वह मर जाए लेकिन दूसरे ब्राह्मण होश में आए और उन्होंने राजा से कहा कि यह चार्वाक तो छद्मवेशी राक्षस है और तब उन्होंने इस विद्रोही चार्वाक को जला डाला।''[45] इस महाभारत उद्धरण में सच बोलने के साहस की सराहना करते हुए देवीप्रसाद चट्‌टोपाध्याय अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन' में लिखते हैं, ''चार्वाक ने ऐसी कोई बात नहीं कही जिसमें स्वार्थ–परायण सुखभोगवाद की गंध भी हो। क्योंकि युधिष्ठिर पर जिस कुकृत्य का आरोप लगाया गया, वह था अपने बंधुओं को मारना और बड़े–बूढों का खून बहाना और कुरुक्षेत्र की लड़ाई में यह सब

हुआ भी था। बंधुओं को मारना पड़ गया था, पुराने समाज की नैतिक मान्यताएँ पैरों तले कुचली गईं थीं। चार्वाक का इसके विरोध में आवाज़ उठाना दो टूक और साहसपूर्ण था।''[46] इस उद्धरण से प्रतीत होता है स्वयं पाण्डव भी चार्वाक मत के समर्थक रहे होंगे।

एक अन्य प्रसंग में राम के वनवास तथा दशरथ के स्वर्गवास के पश्चात् लोकायतवादी जाबालि की भेंट राम से वन में होती है और वह राम से कहते हैं, ''अन्य उपायों धनोपार्जन में क्लेश देख, दूसरों का धन हरने में चतुर लोगों ने दान द्वारा लोगों को वश में करने के लिए धर्मग्रंथों में लिख रखा है कि यज्ञ करो, दान दो, दीक्षा लो, तप करो, संन्यास लो अर्थात् लोगों को धोखा देकर उनका धन हरण करना ही इन धर्मग्रंथो की रचना का मुख्य उद्देश्य है। वास्तव में इस लोक के अतिरिक्त परलोक आदि कुछ भी नहीं है। इसे आप भली–भांति समझ लीजिए। अतः जो सामने है, उसे ग्रहण कीजिए और जो परोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं है उसे पीठ पीछे कीजिए अर्थात् प्रत्यक्ष में सुखदायक राज्य को ग्रहण कीजिए और परोक्ष की बात (सत्यप्रज्ञ करने से बड़ा पुण्य होगा) को भुला दीजिए।''[47]

'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास' पुस्तक में रामविलास शर्मा अपना मत व्यक्त करते हैं, ''वाल्मीकि के राम ने जाबालि की बात नहीं मानी, तुरंत अयोध्या नहीं लौटे, परंतु उसके बाद से अंत तक उनकी दृष्टि राज्य पर थी, यह रामायण से स्पष्ट है। यह सारा व्यापार लोकायत दर्शन के अनुरूप है।''[48] महाभारत के महान् पात्र युधिष्ठिर जो धर्म एवं न्याय मार्ग के पथी थे तथा रामायण के मुख्य पात्र मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम दोनों के कृत्यों को चार्वाक दर्शन से प्रभावित दिखाया है।

जिस धर्म में दुख अधिक और सुख कम मिले उसको त्यागना इस दर्शन का मूल तत्त्व है जो लोक को अधिक भाया है। परंतु लोकायत मत की आधारभूत प्रामाणिक सामग्री के अभाव का कारण शिवकुमार मिश्र अपनी पुस्तक 'साहित्य, इतिहास और संस्कृति' में स्पष्ट करते हैं, ''लोकायत मत की यह सामग्री इस कारण परवर्ती कालों में नष्ट की गई ताकि दर्शन को धर्म तथा अपने वर्ग हितों के अनुरूप इस्तेमाल करने का विशेषतः ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग ने अपने हित में स्थापित की थी।''[49] स्वच्छंद चार्वाक दर्शन जो किसी प्रकार का भेद तथा

बंधन स्वीकार नहीं करता, ऐसे दर्शन की आधारभूत सामग्री को उच्च वर्गों द्वारा अपना वर्चस्व समाज में बनाए रखने के कारण नष्ट कर दिया गया।

संक्षेप में चार्वाक दर्शन ने अंधविश्वास की बेड़ियों को तोड़ने तथा कर्म बंधन से मुक्त होने में जनता की सहायता की। ''कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी राजकुमारों को निर्देश दिया गया है कि वे सांख्य और योग प्रणालियों के साथ–साथ लोकायत दर्शन का भी अध्ययन करें।''[50] विद्वानों ने इस लोकप्रिय दर्शन की आलोचना करते हुए कहा है ''जिस रूप में यह जीवन दर्शन प्राप्त हुआ है, उस रूप में वह संवेदनशील और समझदार नर–नारियों के बरतने योग्य नहीं है।''[51]

1.3.1.2 बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन एक यथार्थवादी दर्शन है। वाचस्पति गैरोला के अनुसार ''छठी शताब्दी ई० पू० से लेकर नवीं शताब्दी तक 1500 वर्षों की अवधि में बौद्ध दर्शन का सक्रांति काल रहा।''[52] बौद्ध धर्म की दार्शनिक विचारधारा स्वयं, उनका धर्म का सिद्धांत है। उनकी दृष्टि में वेद, आत्मा, ईश्वर आदि सभी बातें अविश्वसनीय है। उन्होंने समाज को अंधविश्वासों की ओर जाने से रोका। उनके अनुसार दुख को दूर करने का तरीका अभिलाषाओं का अंत कर देना है।

'भारत का सांस्कृतिक इतिहास' पुस्तक में हरिदत्त वेदालंकार बौद्ध दर्शन के दो दार्शनिक सिद्धांतों की चर्चा करते हैं, ''1. संघातवाद 2. संतानवाद। पहले सिद्धांत का आशय यह था कि आत्मा की कोई पृथक सत्ता नहीं, वह शरीर और मानसिक प्रवृत्तियों का समुच्चय (संघात) मात्र है। संतानवाद का तात्पर्य है कि आत्मा तथा जगत अनित्य है, यह प्रतिक्षण बदलता रहता है। जिस पर नदी का प्रवाह प्रतिक्षण बदलने पर भी वहीं प्रतीत होता है, दीपक की लौ परिवर्तित होते हुए भी उसी तरह जान पड़ती है, वैसे ही आत्मा और जगत् क्षणिक होने पर भी प्रवाह (संतान) रूप में बने रहने के कारण स्थायी प्रतीत होता है।''[53] बौद्ध दर्शन

के तर्क के अनुसार ''प्रत्येक वस्तु हर क्षण बदलती रहती है और सारी स्थिरता केवल दृष्टि–भ्रम है। किसी पदार्थ अथवा वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है।'[54] संसार की कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है, अपितु प्रतिक्षण अपना स्वरूप परिवर्तित करती रहती है।

बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद बुद्ध ने सारनाथ में प्रथम उपदेश दिया था जिसमें उन्होंने चार आर्य सत्यों की व्याख्या की थी। ''ये चार आर्य सत्य है 1. दुःख 2. दुःख का कारण 3. दुःख का अंत 4. दुःख के अंत का उपाय।''[55] सभी भारतीय दर्शनों में भिन्न–भिन्न प्रकार से इसी का समावेश है। रोमिला थापर पुस्तक 'भारत का इतिहास' में लिखती हैं, ''सृष्टि का विश्लेषण बौद्ध दर्शन में कारणवाद के आधार पर किया गया, जिसमें विवेकाश्रित तर्क की प्रधानता थी। दैवी हस्तक्षेप को उनकी व्याख्या में कोई स्थान प्राप्त नहीं था। पुनर्जन्म के चक्कर से छुटकारा पाकर निर्वाण प्राप्त करना ही मुक्ति का एकमात्र साधन था। इस प्रकार बौद्धों के मुक्ति मार्ग के लिए कर्म का सिद्धांत आवश्यक था।'[56] बौद्ध दर्शन पुनर्जन्म में विश्वास करता था। बौद्ध आत्मा के अस्तित्व एवं इसकी शाश्वतता से इंकार करता था किंतु कर्म करने से मुक्ति प्राप्त होती है इस सिद्धांत को स्वीकार करता था।

दार्शनिक जो आत्मा को जन्म और मृत्यु से मुक्त मानते थे तथा शाश्वत और अमरणशील आत्मा का प्रचार करते थे। बुद्ध ने इस मान्यता का खण्डन किया, बुद्ध के विचार हैं, ''हमारी यह काया ही जब क्षणिक है, तो आत्मा जैसी स्थिर वस्तु उसमें रह ही कैसे सकती है?''[57] बुद्ध आत्मा स्वरूपी तत्त्व को नहीं मानते साथ ही साथ ईश्वर की सत्ता को भी नकारते हैं बुद्ध का तर्क था कि ''ईश्वर में विश्वास प्रायः ही श्रेष्ठ जीवन बिताने में व्यवधान उत्पन्न करता है तथा ईश्वर के संबंध में चिंतन प्रायः निष्क्रियता को जन्म देता है और जिम्मेदारी की भावना को कमजोर करता है।''[58] बुद्ध पतन को निश्चित मानते हैं, जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी है और जहाँ जन्म है, वहाँ मृत्यु भी अवश्य है। कर्मों के अनुसार बुद्ध पुनर्जन्म के सिद्धांत को वास्तविक मानते हैं। देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय पुस्तक 'भारतीय दर्शन' में स्पष्ट करते हैं, ''बौद्धों के विचारजगत् में यह चिंतन एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिणाम न था, बल्कि उपनिषदों के विरुद्ध उठी एक धार्मिक प्रक्रिया का परिणाम था।''[59] बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी

विशेषता उसकी प्रगतिशीलता है। जिसमें वर्ण व्यवस्था का विरोध किया गया है। मूलतः बौद्धों ने ब्राह्मणवाद का विरोध किया।

बुद्ध ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करते हैं, आत्मा तत्त्व को नहीं मानते। वेदों की पवित्रता तथा प्रमाणिकता को चुनौती देते हैं। बुद्ध के समय में सामाजिक अवस्था ऐसी थी कि ऊँची जाति के धनी लोग यज्ञ कर सकते थे। नीची जाति के लोग यज्ञ, कर्मकाण्ड, वेदों के अध्ययन एवं उच्च शिक्षा से वंचित थे। ऐसी स्थिति में बौद्ध धर्म का द्वार इनके लिए खुला। इसलिए बौद्ध धर्म एवं दर्शन प्रगतिशील कहा गया।

1.3.1.3 जैन दर्शन

जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों समकालीन रहे हैं। छठी से नवीं शताब्दी का काल जैन युग का स्वर्ण युग था। बौद्धों की तरह जैन भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखते। वेदों की प्रामाणिकता से इंकार करते हैं। पुरोहितों एवं कर्मकाण्ड का विरोध करते हैं।

भारतीय दर्शन पुस्तक में देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय लिखते हैं, ''जैन दृष्टिकोण की अपनी निजी विशेषता थी 'अनेकान्तवाद'। जिसके साथ जुड़े हुए थे 'स्यादवाद' या 'सप्तभंगी नय' के तर्कशास्त्रीय सिद्धांत। अनेकांतवाद का एक अर्थ हो सकता है किसी बात को चरम सत्य न मानने का सिद्धांत, लेकिन इसका कदाचित सही अर्थ होगा किसी प्रकार की चरमपंथिता को स्वीकार न करने का सिद्धांत।''[60] जैन दर्शन में आत्मा को स्वीकार किया है तथा शरीर को आत्मा से अलग एवं स्वतंत्र माना गया है ''जैनों की कल्पना है की प्रत्येक वस्तु में आत्मा रहती है।''[61] बौद्धों ने आत्मा के अस्तित्व से इंकार किया है, किंतु जैनों ने आत्मा की अनश्वरता में विश्वास किया है। के. दामोदरन स्पष्ट करते हैं, ''जैन मतावलंबियों के अनुसार दो मूल श्रेणियाँ हैं जीव और अजीव। ये दोनों श्रेणियाँ किसी के द्वारा सृजी नहीं गई हैं और इनका स्वतंत्र अस्तित्व है तो भी ये परस्पर सम्बद्ध है जीव आंनद लेने वाला है और अजीव आनंद देने वाली वस्तु है।''[62] आगे के. दामोदरन स्पष्ट करते हैं, ''जैन मतावलंबी इस

बात पर जोर देते थे कि मस्तिष्क, श्वास, आवाज अथवा ध्वनि, पदार्थ से स्वतंत्र नहीं रह सकते। सभी भौतिक पदार्थों में चार गुण विद्यमान होते हैं—यथा स्पर्श, स्वाद, गंध और रंग। ये गुण पदार्थ के बिना मौजूद नहीं रह सकता।''[63] नित्य अनित्य संबंधी प्रश्न पर जैनों का मत है, सभी में नित्य और अनित्य दोनों की सत्ता विद्यमान रहती है। जैन दर्शन में परमाणुओं के संघात से ही संसार के सारे पदार्थों की उत्पत्ति बतायी गयी है।

जैन धर्म के अनुसार मानव जीवन का उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करना है। हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार, ''जैन धर्म का प्रधान सिद्धांत स्यादवाद है। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मात्मक हैं। इन सब का ज्ञान तो उसी व्यक्ति को हो सकता है, जिसने कैवल्य (मुक्ति) प्राप्त कर लिया हो। साधारण व्यक्ति उसके अंश मात्र को ही जान सकता है। अतः हमारा ज्ञान सीमित और सापेक्ष है। इसे प्रकट करने के लिए प्रत्येक ज्ञान के साथ शुरु में स्यात् (सम्भवतः) शब्द जोड़ना चाहिए। इसी को स्यादवाद या अनेकांतवाद कहते हैं।''[64] जैन धर्म के अनुसार सृष्टि अनादि है तथा जिन तत्त्वों से इनका निर्माण हुआ है वह भी अनादि है। आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उनके अनुसार शरीर से भिन्न आत्मा को जान लेने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है। निर्वाण प्राप्त कर लेने पर मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता। जैन दर्शन में मोक्ष के तीन साधन माने जाते हैं ''सम्यक दर्शन (श्रद्धा), सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र। चरित्र की शुद्धि के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन आवश्यक है।''[65] बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म भी ब्राह्मणों की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का विरोध करता है।

1.3.2 अध्यात्मवादी दर्शन

अध्यात्मवादी दर्शन आस्तिक दर्शन है। यह आत्मा, वेद तथा ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है। इसका उद्भव भौतिकवादी दर्शन की प्रतिक्रिया में हुआ है।

1.3.2.1 सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल ऋषि (ई० पू० सातवीं और छठी शताब्दीं के मध्य रहने वाले व्यक्ति) माने जाते हैं। भारतीय चिंतन परंपरा में के. दामोदरन स्पष्ट करते हैं, ''यह वह समय था जब कुल कबीलेवाली आदिम साम्यवादी व्यवस्था टूट रहीं थी। विकासोन्मुख अर्थतंत्र की इस पृष्ठभूमि में प्रथम सांख्य दार्शनिकों ने तर्क और युक्ति के प्रति अपना विश्वास प्रकट किया।''[66] सांख्य शब्द का विद्वानों ने अनेक प्रकार से अर्थ किया है कुछ विद्वानों के अनुसार ''इस दर्शन का सांख्य नामकरण इसलिए हुआ, क्योंकि इसमें सर्वप्रथम पच्चीस तत्त्वों की संख्या निर्धारित की गयी है।''[67] कुछ का मत है कि इस प्रणाली का नाम सांख्य प्रणाली इसलिए पड़ा कि यह वैदिक अवधारणाओं से नहीं, वरन् तर्कपूर्ण और युक्तिसंगत चिंतन के द्वारा सत्य की प्राप्ति की समर्थक थी।

'भारतीय दर्शन' पुस्तक में देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय स्पष्ट करते हैं, ''सांख्य ने न केवल सर्व–आत्मा ब्रह्म की मान्यता को अस्वीकार किया बल्कि जोरदार तरीके से ईश्वर का भी विरोध किया।''[68] के. दामोदरन भी सांख्य दर्शन के विषय में कहते हैं, ''सांख्य दार्शनिकों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सका।''[69] वाचस्पति गैरोला ने ईश्वर के संबंध में सांख्यकारों के दो मत बताए हैं, ''कुछ विचारक तो ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं समझते और कुछ ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं।''[70] सांख्य दार्शनिकों ने उपनिषदों की भाँति सृष्टि के मूल तत्त्वों को खोजने का प्रयत्न किया परंतु प्रत्यक्षवादी होने के कारण उन्होंने केवल अनुमान को कभी स्वीकार नहीं किया। वेदों के प्रति निष्ठा के कारण सांख्य अध्यात्मवादी दर्शन के अंतर्गत आते हैं।

सांख्य द्वैतमूलक दर्शन है ''इसके अनुसार प्रकृति और पुरुष ही मूल तत्त्व हैं। इनके परस्पर संबंध से जगत् का आविर्भाव होता है। प्रकृति सत्व, रज, तम नामक तीन गुणों की साम्यावस्था है, इनमें वैषम्य होने पर सृष्टि का आविर्भाव होता है।''[71] सांख्य प्रणाली का सिद्धांत 'सत्कार्यवाद' बताया गया है। इस सिद्धांत की व्याख्या के. दामोदरन इस प्रकार करते हैं, ''यह सिद्धांत कार्य और कारण की समेकिकता के सिद्धांत पर आधारित है। इस सिद्धांत के

अनुसार किसी भी वस्तु की उत्पत्ति शून्य से नहीं हो सकती थी..... प्रत्येक कारण स्वंय अपना प्रभाव भी उत्पन्न करता है। इस प्रभाव का उत्पन्न न होना असम्भव है। उदाहरण के लिए दही, दूध से ही बनाया जा सकता है पानी से नहीं।''[72] किसी कार्य के होने के पीछे विशेष कारण होता है।

सांख्य दर्शन वेदों तथा वेद वाक्यों को महत्त्वपूर्ण मानता है उनके अनुसार ''शब्द दो प्रकार के होते हैं : लौकिक और वैदिक। इन्हीं को क्रमशः दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भी कहा जाता है। माननीय या विश्वासपात्र व्यक्तियों द्वारा कहे गये लौकिक शब्दों को सांख्य प्रामाणिक नहीं मानता, क्योंकि वे प्रत्यक्ष और अनुमान पर आधारित होते हैं इसके अतिरिक्त श्रुति या वेद वाक्य प्रमाण की कोटि में आते हैं''[73] वेद वाक्यों को सांख्यवादी दार्शनिक त्रुटि अथवा दोषरहित मानते हैं क्योंकि वह अनुमान पर आधारित न होकर प्रत्यक्ष होते हैं।

सांख्य दर्शन यज्ञों को महत्त्व नहीं देता। वह यज्ञों को अपवित्र मानते हैं। तब मोक्ष प्राप्ति के लिए यज्ञ करने होते थे जिसमें पशुबलि दी जाती थी। सांख्य दर्शन इसकी निंदा करते हुए यज्ञ को अपवित्र बताकर ब्रह्माण्ड और ज्ञाता के विषय में तर्कपूर्ण विचार करके ज्ञान प्राप्त करने को महत्त्व देता है। सांख्य दर्शन भारतीय दर्शनों में एक महत्त्वपूर्ण दर्शन है जो आदर्शवाद का खण्डन करता है और प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है।

1.3.2.2 योग दर्शन

भारतीय दर्शन की योग प्रणाली, जिसके प्रणेता पतंजलि है। योग शब्द 'युज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ जोड़ना होता है। आचार्य रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार, ''इस विद्या का योग नाम इसलिए पड़ा कि इसके द्वारा साधक शरीर को आत्मा से जोड़ते हैं एवं वैयक्तिक आत्मा को विश्वात्मा में स्वीकार करते हैं। योगी, योग क्रिया के द्वारा भावों एवं उद्वेगों को शांत एवं मांसपेशियों, स्नायुओं और धमनियों की क्रियाओं को मन के अनुशासन में नियोजित करता है। अंत में मन के विलय के द्वारा योग आत्मा की मुक्ति का भी कारण होता

है।''[74] योग एक प्राचीन दर्शन है जिसके उद्‌भव के विषय में विद्वानों में मतभेद है किंतु योग को एक सुसम्बद्ध प्रणाली में बद्ध करने में पतंजलि को महत्त्व दिया जाता है। वेदांतियों के लिए योग आत्मज्ञान का एक साधन था। 'भारतीय चिंतन परंपरा' पुस्तक में के. दामोदरन स्पष्ट करते हैं, ''योग का अर्थ इस बात का सतत मनन करना था कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ' किंतु पतंजलि के मतानुसार योग का अर्थ था सभी मानसिक व्यापारों को रोक देना। उन्होंने योग की परिभाषा इस रूप में की है 'योगश्चितवृत्तिनिरोधः' अर्थात् चित् की वृत्तियों को रोकने का नाम योग है।''[75] योग के द्वारा मानसिक विकार दूर होते हैं, मन पर संयम रखा जा सकता है। इंद्रियों को वश में रखा जा सकता है।

योगाभ्यास के आठ अंग है ''1. यम (आत्म नियंत्रण), 2. नियम (अनुशासन पालन) 3. आसन (शारीरिक व्यायाम) 4. प्राणायाम (श्वास–प्रश्वास नियमन) 5. प्रत्याहार (ब्रह्म वस्तुओं से इंद्रियों की वापसी) 6. धारणा (टकटकी लगाना) 7. ध्यान (मनन) 8. समाधि (एकाग्रचित होना)।''[76] योग के इन आठ नियमों एवं अंगों का पालन कर मनुष्य अपनी इंद्रियों एवं मन पर नियंत्रण स्थापित कर सकता है और परमानंद की अवस्था को प्राप्त कर सकता है। जवाहर लाल नेहरू अपनी पुस्तक 'हिंदुस्तान की कहानी' में कहते हैं, ''पतंजलि का योग दर्शन खासतौर पर शरीर और मन के संयम का एक तरीका है, जिससे मानसिक और आत्मिक शांति मिलती है।''[77] चेतना एवं मन की रोकथाम का विशेष उपाय योग प्रणाली है, जो कि व्यक्ति को अध्यात्म से जोड़ती है।

वाचस्पति गैरोला के अनुसार योग दर्शन को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं, ''योग दर्शन के अनुसार यह संसार दुःखमय है। जीवात्मा के मोक्ष का एकमात्र उपाय योग है। ईश्वर, नित्य, अद्वितीय और त्रिकालातीत है।''[78] योग और सांख्य दर्शन एक प्रकार माने गए है। योग की तत्त्व मीमांसा (सत्व, रज, तम) सांख्य से बहुत मिलती जुलती थी। किंतु दोनों में ईश्वर को लेकर मतभेद है। सांख्य ने तो ईश्वर के विचार को तिलांजलि दे दी किंतु योग ने उसे अपनाया। साथ में देवीप्रसाद चट्‌टोपाध्याय कहते हैं कि पतंजलि की ईश्वर की अवधारणा विश्व के सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के समान नहीं थी। उसी प्रकार भारतेश कुमार मिश्र एवं सच्चिदानंद त्रिपाठी अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन' में स्पष्ट करते हैं, ''योग का ईश्वर सांख्य के पुरुष तत्त्व

से भिन्न नहीं है अपितु पुरुषों में सर्वोत्कृष्ट अर्थात् पुरुष विशेष है।''[79] ईश्वर की पुरुष विशेष के रूप में व्याख्या करते हुए ये विद्वान स्पष्ट करते हैं, ''अन्य पुरुषों की अपेक्षा ईश्वर में विलक्षणता इस कोण से है कि वह अविद्या आदि पाँच क्लेश, शुभाशुभ कर्म, कर्मजनित जाति, आयु तथा भोग रूप विपाक फल तथा कर्म संस्कार कर्माशय से सर्वदा एवं सर्वथा असंपृष्ट रहता है।''[80] यद्यपि योग दर्शन ईश्वर को विशेष पुरुष के रूप में स्वीकार तो करता है, किंतु उसे ब्रह्माण्ड का सृष्टा नहीं मानता। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार ''योग दर्शन का व्यक्तिगत ईश्वर उस प्रणाली के शेष भाग से बहुत ही कम सम्बद्ध है। मनुष्य की आकांक्षाओं का लक्ष्य ईश्वर में एकात्म स्थापित करना नहीं, वरन् पुरुष को प्रकृति से पूर्णतः अलग करना है। ईश्वर की भक्ति मोक्ष प्राप्त करने के अनेक उपायों में से एक है। ईश्वर केवल एक पुरुष विशेष है, न कि ब्रह्माण्ड का सृष्टा और संरक्षक है।''[81] योग एक आदर्शवादी दर्शन माना जाता है। योगाभ्यास के द्वारा शारीरिक विकास एवं शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। चित्त शांत होता है। मानसिक विकार को दूर करने में योग की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ये साधक को परमानंद की अवस्था में ले जाता है। देश–विदेश में भारत की योग द्वारा एक विशेष पहचान बनी है। विदेशी नामकरण इसका योगा हो गया है और अब यह केवल व्यायाम की प्रणाली बन कर रह गया है।

1.3.2.3 न्याय दर्शन

न्याय दर्शन की सत्ता भारतवर्ष में बहुत प्राचीन है। इसके प्रवर्तक 'गौतम अक्षपाद' माने जाते हैं। न्याय का अर्थ है, ''वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मस्तिष्क एक निष्कर्ष पर पहुँचे।''[82] वाचस्पति गैरोला न्याय शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं, ''जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय को सिद्ध किया जा सके या जिसके द्वारा किसी निश्चित सिद्धांत पर पहुँचा जा सके।''[83] न्याय दर्शन एक तर्कवादी दर्शन माना जाता है क्योंकि तर्क के द्वारा ही किसी निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है। तर्क के द्वारा ही न्याय सम्भव है।

न्याय को परमाणुवादी दर्शन मानते हुए वाचस्पति गैरोला कहते हैं, ''न्याय के अनुसार प्रत्येक वस्तु की विशिष्ट सत्ता होती है, जो उसको शेष वस्तुओं से पृथक करती है।''[84] जवाहर लाल नेहरू न्याय दर्शन के विषय में अपना मत रखते हैं, ''यह मान लिया गया था कि जिदंगी और प्रकृति में तारतम्य और एकता है। व्यक्ति रूप ईश्वर में भी विश्वास है, इसी तरह व्यक्ति रूप आत्माओं और पारमाणिक सृष्टि में। व्यक्ति न शरीर और न आत्मा, बल्कि दोनों के मेल का नतीजा है।''[85] के. दामोदरन न्याय दर्शन का विवेचन इस प्रकार करते हैं, ''वैशेषिक के समान न्याय भी मूलतः एक भौतिकवादी दर्शन है, जिसके अनुसार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में किसी ईश्वर अथवा अन्य अलौकिक शक्ति का हाथ नहीं है।'[86] न्याय दर्शन ईश्वर को तो स्वीकार करता है, परंतु यह नहीं मानता कि ब्रह्माण्ड के सृष्टिकर्ता ईश्वर है। ये ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का मूल आधार पाँच मूलभूत शाश्वत तत्त्वों– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश को मानते हैं। न्याय दर्शन ईश्वर की सत्ता के विषय को बड़ी गंभीरता और बारीकी से लेते हैं। वाचस्पति गैरोला न्याय दर्शन में ईश्वर संबंधी विचारों को इस प्रकार प्रकट करते हैं, ''ईश्वर निःशरीर है, किंतु उसमें इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न के गुण वर्तमान है। वह सर्वज्ञ, शक्तिमान है और अनंत ज्ञान का आगार है। इस जगत् को बनाने वाला संस्थापक, नियामक और संहारक सभी कुछ वही है।''[87] न्याय को आस्तिक एवं आध्यात्मवादी दर्शन में लेने का कारण उसकी वेदों के प्रति निष्ठा है। न्याय दार्शनिकों के अनुसार वेदों को प्रामाणिक माना गया है, क्योंकि उसको ईश्वर ने बनाया है तथा ईश्वर अनादि और अलौकिक है। इसलिए वेदों को भी अनादि और अलौकिक माना गया है।

न्याय दर्शन भारतीय दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, जिसमें अनुशासन को महत्त्व दिया गया है तथा इस दर्शन ने ईश्वरवाद के प्रवेश के द्वार आगे के लिए खोले।

1.3.2.4 वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता 'कणाद ऋषि' माने जाते हैं। ''उनका स्थितिकाल लगभग 400 ई० पू० बताया गया है।''[88] कणाद को कहीं–कहीं ''अलूक या औलूक नाम से

अभिहीत किया गया है। इनके दर्शन को औलूक्य दर्शन भी कहते हैं।''[89] कणभक्ष (कणों को खाने वाला) होने के कारण उनका नामकरण कणाद हुआ। अन्य दर्शनों की अपेक्षा विलक्षण होने के कारण इस दर्शन का नाम वैशेषिक रखा गया।

वैशेषिक दर्शन एक परमाणुवादी दर्शन है। यह न्याय दर्शन से मिलता जुलता है। 'हिंदुस्तान की कहानी' पुस्तक में जवाहर लाल नेहरू इस दर्शन के विषय में कहते हैं, ''यह जीव और पदार्थ की भिन्नता पर जोर देता है और इस सिद्धांत को प्रस्तुत करता है कि सृष्टि परमाणुओं से निर्मित है। इसमें विश्व को धर्म के आधार पर संचालित बताया गया है और इसी सिद्धांत पर सारा ढांचा खड़ा है। ईश्वर के अनुमान को साफ–साफ स्वीकार नहीं किया गया है। कुल मिलाकर इसका नज़रिया यथार्थवादी है।'[90] परमाणु वैशेषिक दर्शन का महत्त्वपूर्ण, वैज्ञानिक और जटिल सिद्धांत माना जाता है। वैशेषिक के अनुसार जितने भी दृश्यमान पदार्थ है। वे सावयव है और वे भिन्न अवयवों के योग से बने हैं। ये परमाणु शाश्वत और अनश्वर हैं और वे ही इस समूचे ब्रह्माण्ड का आधार है।

के. दामोदरन, 'भारतीय चिंतन परंपरा' में वैशेषिक प्रणाली के विषय में परमाणु स्पष्ट करते हैं, ''वैशेषिक प्रणाली के अनुसार अलग–अलग हिस्सों के मिलने से संपूर्ण बनता है। प्रत्येक पदार्थ को छोटे–छोटे हिस्सों में विभाजित किया जा सकता है। भौतिक वस्तुओं के अंतिम घटक अत्यंत छोटे कण होते हैं, जो परमाणु कहलाते हैं। भौतिक जगत् की समस्त वस्तुओं का विकास इन परमाणुओं से हुआ है। परमाणु वह सूक्ष्मकण हैं, जिन्हें आगे विभाजित नहीं किया जा सकता। यहीं पर संपूर्ण और अंग के बीच में भेद समाप्त हो जाता है।''[91] वैशेषिक दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया बड़ी उलझी हुई है ''किंतु वैशेषिक दर्शन विश्व के सृष्टा के रूप में ईश्वर को भी मानता है।''[92] वैशेषिक दर्शन का मत है कि सृष्टि और लय इन दोनों का आदि और अंत नहीं है। प्रत्येक सृष्टि से पहले वह लय की अवस्था और प्रत्येक लय से पूर्व सृष्टि की अवस्था मानते थे। के. दामोदरन इस दर्शन में कर्म के प्रभाव को महत्त्व देते हुए इसके नियम को स्पष्ट करते हैं, ''कर्म अथवा अदृष्ट का भौतिक नियम परमाणुओं से गति उत्पन्न करने वाला कारण माना गया। कर्म का नियम मूलतः कारण और प्रभाव के नियम का ही विस्तार था, जिसका अर्थ है, 'जैसा बोओगे, वैसा काटोगे' क्योंकि प्रत्येक प्रभाव का एक

कारण है, पर वह दृष्टि से ओझल अथवा अदृष्ट है।''[93] प्रत्येक कर्म के पीछे कोई कारण है। किए गए कर्म के कारण ही उसका प्रभाव उत्पन्न होता है तथा फल की प्राप्ति होती है।

वैशेषिक दर्शन परमाणुओं की शाश्वतता को बताता है। जिस प्रकार घड़े के टुकड़े–टुकड़े कर देने पर भी उसके परमाणुओं को कभी नष्ट नहीं किया जा सकता। पदार्थ का भी न तो निर्माण किया जा सकता है न ही नाश। सृष्टि प्रक्रिया का चक्र निरंतर घूमता रहता है। इसका न आदि है न अंत। यह दर्शन का एक विलक्षण सिद्धांत प्रस्तुत करता है।

1.3.2.5 मीमांसा दर्शन

मीमांसा दर्शन के प्रणेता महर्षि जैमिनि माने जाते हैं। ''मीमांसा शब्द का अर्थ है सुव्यवस्थित अन्वेक्षण।''[94] देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय मीमांसा दर्शन के विषय में विचार व्यक्त करते हैं, ''मीमांसा इस बात का जीता जागता उदाहरण है कि भारतीय दर्शन के एक आस्तिक (अर्थात् वेद भक्त) सम्प्रदाय के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करें ही।''[95] जैमिनि ने वैदिक यज्ञों को न्यायसंगत ठहराया है तथा वेदों पर गंभीर एवं मौलिक दृष्टि से विचार किया है, इसलिए इसको वैदिक दर्शन कहा गया है। भारतीय चिंतक के. दामोदरन के अनुसार, ''मीमांसकों ने इन यज्ञों को पुनरुज्जीवित किया, किंतु साथ ही उनके नए अर्थ भी जोड़े। यज्ञ अब केवल देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अथवा आत्मा की शुद्धता के लिए नहीं बल्कि इसलिए किए जाते थे कि वेदों और ब्राह्मणों के द्वारा वे निर्देशित थे।''[96] मीमांसकों ने वेदों को पवित्र माना है ''अपौरुषेय होने से वेद निष्कुलष एवं निर्दोष है।''[97] इनके अनुसार वेदों को न तो मनुष्यों ने रचा है न देवताओं ने। वेदों की सत्ता अनादिकाल से है और यह दर्शन किसी लौकिक शक्ति को सृष्टिकर्ता नहीं मानता था। यज्ञों को स्वर्ग प्राप्ति का साधन मानते हुए इनकी एक और दृष्टि की व्याख्या दामोदरन इस प्रकार करते हैं, ''प्राचीन आर्य, निस्संदेह यज्ञों को अग्नि, वायु, वरूण और मित्र जैसे देवताओं के प्रसादन का एक साधन मात्र मानते थे और समूची जनता को यज्ञ करने के अधिकार से वंचित

कर दिया गया।'[98] मीमांसक वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों को श्रेष्ठ समझते थे और दास प्रथा का भी समर्थन करते थे। किंतु जैमिनि इस मत के विरोधी थे। उनके अनुसार चारों वर्णों में कम से कम यज्ञ के मामले में भेदभाव नहीं करना चाहिए।

आत्मा संबंधी विचार में भारतीय चिंतन परंपरा में के. दामोदरन उल्लेख करते हैं, ''मीमांसा आत्मा के अस्तित्व से इंकार नहीं करती। किंतु शाश्वत होते हुए भी आत्मा न पदार्थ से असम्बद्ध है न कर्म से स्वतंत्र है। आत्मा और शरीर मिलकर एक इकाई का निर्माण करते हैं। यह इकाई है–मनुष्य।''[99] मीमांसा दर्शन कर्मकांड संबंधी है। यह यज्ञ का समर्थन करते हैं। वेदों को पवित्र एवं अनादि मानते हैं। ब्राह्मणवाद का समर्थन करते हैं। मीमांसक संतान की उत्पत्ति का कारण माता–पिता को मानते हैं न कि ईश्वर को। यह दर्शन एक आदर्शवादी दर्शन माना जाता है।

1.3.2.6 वेदांत दर्शन

वेदांत को उत्तर मीमांसा भी कहा जाता है। वेदांत शब्द का अर्थ है वेद का अंत अर्थात् वैदिक साहित्य का अंतिम भाग। वेदांत उपनिषदों पर आधारित है, जो वेदों की महान् परिसमाप्ति माने जाते थे। के. दामोदरन के अनुसार ''उपनिषद्ों में कोई समान रूप से संगत दार्शनिक विचार प्रतिपादित नहीं किया। उनमें भौतिकवादी और आदर्शवादी दोनों ही प्रवृत्तियाँ विद्यमान है और अनेक स्थानों पर तो उनमें परस्पर विरोधी बातें भी कहीं गयी हैं।''[100]

वेदांत सूत्र जिसका अन्य नाम ब्रह्मसूत्र भी है। इस ग्रंथ के रचनाकार 'बादरायण' माने जाते है। ''उनका जीवन काल ई० पू० चौथी शताब्दी और ईसवी सन् दूसरी शताब्दी के बीच माना जाता है। कुछ लोग तो उन्हें पौराणिक वेद व्यास मानते हैं, जिन्होंने वेदों और महाभारत का उनके वर्तमान रूप में संपादन किया।''[101] देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय इस सूत्र के विषय में कहते हैं, ''सूत्र स्वंय इतने अस्पष्ट अर्थवाले हैं कि उनमें से किसी एक दार्शनिक मतवाद को निःसंदिग्ध रूप में निकाल पाना असम्भव है।''[102] 'भारतीय चिंतन परंपरा'

पुस्तक में के. दामोदरन ब्रह्मसूत्र के विषय में कहतें हैं, ''ब्रह्मसूत्र ने उपनिषदों के इस दृष्टिबिंदुओं पर जोर दिया है कि आत्मा ही स्वंय परमात्मा है और यह ब्रह्माण्ड उसी पदार्थ से उत्पन्न हुआ है जिससे ब्रह्म।''[103] ब्रह्मसूत्र के अनुसार सृष्टि और सृष्टिकर्ता एक है। जिस प्रकार मकड़ी अपना जाल स्वंय बुनती है, उसी प्रकार ब्रह्म ने ब्रह्माण्ड की रचना की।

विद्वानों के अनुसार ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों की शिक्षाएँ एक है किंतु उपनिषद्ों में आदर्शवादी और भौतिकवादी दोनों अवधारणाएँ हैं। बादरायण के ब्रह्मसूत्र के पश्चात् इसी श्रेणी अथवा क्रम में अन्य सम्प्रदाय एवं मत हुए जिनमें शंकराचार्य, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ आदि आचार्य हुए। जिन्होंने इस दर्शन का विकास किया।

1.3.2.6.1 अद्वैतवाद

शंकराचार्य अपने समय के अद्भुत प्रतिभा के विद्वान थे। उन्होंने वेदांत सूत्र उपनिषद् और गीता पर महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखकर अद्वैत वेदांत को प्रतिष्ठापित किया। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म के साक्षात्कार का एक ही मार्ग है अद्वैत वेदांत। ''अद्वैत शब्द का अर्थ है दूसरे का न होना। प्रस्तुत मतवाद का यह नाम इसलिए पड़ा कि इसमें एक ब्रह्म अर्थात् शुद्ध चैतन्य अर्थात् आत्मा को छोड़कर किसी दूसरे तत्त्व को वास्तविक नहीं माना गया है। लेकिन इस प्रकार का दर्शन ईश्वरवाद के लिए अवकाश भी कदाचित् ही छोड़ता है क्योंकि यह दर्शन आत्मा को ही वास्तविक मानता है।''[104] शंकराचार्य ने एकेश्वरवाद पर आधारित नई प्रणाली को जन्म दिया। शंकराचार्य का मूल सिद्धांत है ''ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या है और जीव (आत्मा) ब्रह्म का ही अंश है।''[105] दिखाई देने वाली दुनिया सिर्फ माया की उत्पत्ति है। ब्रह्म को ही परम सत्य और मायाजनित विकार से रहित माना है। जगत् अवास्तविक हो गया। 'भारतीय दर्शन' पुस्तक में देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय शंकर और उनके अनुयायियों के माया संबंधी विषय पर कहते हैं, ''अवास्तविक जगत् वास्तविक सा प्रतीत क्यों होता है इस समस्या का हल भ्रांत प्रत्यक्षों को दृष्टांत बनाकर खोजा गया। अज्ञान के कारण

ही कोई व्यक्ति रस्सी के स्थान पर सांप देखता है। अद्वैत वेदांत की शब्दावली में अज्ञान को अविद्या अथवा माया नाम दिया गया।''[106]

शंकर का स्वीकृत दर्शन तथा संगठन बौद्धों के दर्शन से मिलते जुलते थे। आचार्य दिनकर, 'संस्कृति के चार अध्याय' में स्पष्ट करते हैं, ''जो बौद्धों का शून्यवाद था वहीं शंकर का मायावाद हुआ। शून्यवाद को मायावाद के नाम से अपनाने के कारण शंकर को लोग प्रच्छन्न बौद्ध कहते थे।'[107] किंतु शंकर ने उपनिषद्ों की सत्ता को स्थापित करने के लिए विविध आचार्यों से तर्क–वितर्क किया, शास्त्रार्थ हुए। इतिहासकार रोमिला थापर पुस्तक 'भारत का इतिहास' में स्पष्ट करती हैं कि ''बौद्ध शंकर के इस नए धर्म आंदोलन से इसलिए क्रुद्ध हुए कि यह आंदोलन उन्हीं की पद्धति से उन्हें नष्ट करना चाहता था।''[108] रामजी उपाध्याय, पुस्तक 'भारतीय धर्म और संस्कृति' में अद्वैत दर्शन में योग की महत्ता प्रतिपादित करते हैं ''शंकर ने अष्टांगिक योग के द्वारा सुगमता से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की योजना प्रस्तुत की है।''[109] शंकर का अद्वैत दर्शन निर्गुण ब्रह्म को मानता है। ब्रह्म जीव में कोई अंतर नहीं करता तथा कर्म, भक्ति एवं योग को महत्त्वपूर्ण मानता है।

भारतीय चिंतक के. दामोदरन पुस्तक 'भारतीय चिंतन परंपरा' में कहते हैं कि शंकर ब्राह्मणवाद से प्रभावित थे। शंकराचार्य ने कहा कि ''शूद्र को वेदों का अध्ययन करने और समझने के योग्य नहीं माना जाना चाहिए। भले ही वह शारीरिक रूप से पूर्णतः स्वस्थ और उसमें पढ़ने व अध्यापन करने की अभिलाषा मौजूद हो।''[110] शंकराचार्य जैसे प्रखर बुद्धि, प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले व्यक्ति जिन्होंने भारत के चार कोनों में चार मठ स्थापित किए। उन्होंने भी वर्ग व्यवस्था का समर्थन किया तथा ब्राह्मणत्व को उच्च सिद्ध किया। उनके विचार तब की जनता में असंतोषजनक हुए तभी आल्वार संतों की भक्ति भावना का विशेष स्वागत हुआ जिन्होंने भक्ति के द्वार शूद्रों के लिए भी खोले। डॉ. पी. जयरामन, 'भक्ति के आयाम' पुस्तक में स्पष्ट करते हैं, ''यद्यपि शंकर के अद्वैत दर्शन के तीव्र प्रवाह में अन्य सभी मतांतर विलीन हो गए थे फिर भी उनका अद्वैतवाद भारतीय जनमानस को स्पर्श नहीं कर सका। शंकर ने ब्रह्म और जीव की अद्वैतता को उस अमूर्त स्थिति तक पहुँचा दिया था कि सामान्य व्यक्ति अपनी बुद्धि से ग्रहण करने में असमर्थ पाने लगा।''[111]

1.3.2.6.2 विशिष्टाद्वैत

विशिष्टाद्वैत के प्रणेता 'रामानुजाचार्य' थे। डॉ. पी. जयरामन 'भक्ति के आयाम' पुस्तक में विशिष्टाद्वैत मत के विषय में कहते हैं, ''यद्यपि रामानुजाचार्य के पूर्व ही नाथमुनि, यमुनाचार्य आदि आचार्यों द्वारा श्री सम्प्रदाय या विशिष्टाद्वैत मत की रूपरेखा प्रस्तुत हो गई थी फिर भी उसे एक सुसंगठित शास्त्र सम्मत साधना पद्धति का रूप देने का प्रथम उल्लेखनीय प्रयत्न श्री रामानुजाचार्य ने ही किया है।'[112] शंकराचार्य की अद्वैत की अवधारणा में एक ब्रह्म अर्थात् आत्मा को छोड़कर किसी दूसरे का अस्तित्व नहीं है तथा ब्रह्म एवं जीव में कोई भेद नहीं है। इसी मत के विरोध में रामानुज ने विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया। 'भारतीय चिंतन परंपरा' में के. दामोदरन स्पष्ट करते हैं, ''रामानुज का मत था कि यद्यपि जीवात्मा परमात्मा से एकाकार है, तो भी उसका स्पष्ट और अलग अस्तित्व है यह सही है कि जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है। किंतु अंश तो संपूर्ण के बराबर नहीं हो सकता।''[113] वैष्णव दार्शनिक रामानुज शंकर के विचारों का तर्कपूर्ण खंड़न करते हैं। शंकराचार्य निर्गुण ब्रह्म की व्याख्या करते हैं। निर्गुण को महत्त्व देते हैं। वहीं ''रामानुज का ब्रह्म केवल सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी था। वरन् उसमें ज्ञान, शक्ति, कल्याण, दीप्ति तथा दया आदि गुण मौजूद है।''[114]

रोमिला थापर, 'भारत का इतिहास' पुस्तक में रामानुज के ज्ञान संबंधी विचारों का उल्लेख करती हैं, ''रामानुज शंकर के इस सिद्वांत से सहमत नहीं थे। कि ज्ञान मुक्ति का प्रमुख साधन है। रामानुज के अनुसार ज्ञान अनेक साधनों में से एक है। लेकिन पूर्णतया अर्पित भावना के साथ की गई परम भक्ति के सदृश प्रभावशाली अथवा विश्वसनीय नहीं है।''[115] रामानुज प्रपत्ति (भगवान की शरणागति) को महत्त्व देते हैं। ज्ञान ही सर्वस्व है या ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा स्वीकार नहीं करते। रामानुज ने विष्णु की आराधना के लिए सभी जाति के लोगों को अधिकारी घोषित किया। वे वर्ण भेद को नहीं मानते थे। शूद्र जिन्हें मंदिरों में प्रवेश की अनुमति थी। रामानुज ने उनके लिए विशेष प्रयत्न किए तथा वैष्णव भक्ति की ओर आकर्षित किया।

डॉ. पी. जयरामन, विशिष्टाद्वैत सिद्धांत के ब्रह्म एवं जीव संबंधी विचारों को बताते हैं, ''जगत् ब्रह्म का शरीर है और ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत हुआ है, फिर भी वह निराकार है। जगत् सत्य है मिथ्या नहीं। जीव भी ब्रह्म का शरीर है। ब्रह्म स्वामी है जीव दास। जीव और ब्रह्म दोनों चेतन है, परंतु ब्रह्म पूर्ण और जीव अंश।''[116] रामानुज ईश्वर को सगुण, सृष्टिकर्ता, कर्मफलदाता एवं सर्वगुणसम्पन्न मानते हैं। ब्रह्म तथा जीव में भेद रखते है। जीव भक्ति के द्वारा ब्रह्म (ईश्वर) को प्राप्त कर सकता है।

शंकर के अद्वैत ने जहाँ 'दो का न होना' स्वीकार किया है, कि ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या, वहीं रामानुज जगत् को भी सत्य मानते हैं। उनके अनुसार दोनों सत्य है तथा ब्रह्म एवं जीव में इतना भेद है कि ब्रह्म विशिष्ट है जीव उसका अंश मात्र है। रामानुज वर्णभेद का विरोध करते हैं। जहाँ शंकर का दर्शन सामान्य जन स्वीकार नहीं कर पाया। वहीं रामानुज के विशिष्टाद्वैत को जनमानस ने सहजता से स्वीकार किया है।

1.3.2.6.3 द्वैतवाद

उत्तर वेदांत के प्रमुख दर्शन द्वैतमत के प्रणेता 'माध्वाचार्य' थे। जिनका जन्म तेरहवीं शताब्दी में हुआ। डॉ. पी. जयरामन के अनुसार, ''दार्शनिकों ने प्रायः साधन के रूप में भक्ति को स्वीकार किया था। किंतु पांचरात्र मत के पुराणों पर आधारित होने और वासुदेव, अनिरूद्ध, संकर्षण आदि के प्रतीक रूप में ग्रहण किए जाने के कारण आचार्य शंकर ने इस पांचरात्र मत को अवैदिक मत कहकर इसकी कड़ी आलोचना की थी, किंतु भक्ति का वेग दब न सका।''[117] यह भक्ति का वेग शंकर के अद्वैतवाद का खंड़न करके रामानुज के विशिष्टाद्वैत और फिर माध्व के द्वैतमत के रूप में आगे बढ़ा। माध्व की शिक्षा अद्वैत प्रणाली के अंतर्गत हुई थी। किंतु ज्यादा दिनों तक अद्वैत दर्शन का प्रभाव इन पर नहीं रहा। माध्वाचार्य का द्वैतवाद, शंकराचार्य के अद्वैतवाद और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद, दोनों से भिन्न था।

'भारतीय चिंतन परंपरा' पुस्तक में के. दामोदरन द्वैत सिद्धांत की केंद्रीय शिक्षा बताते हैं कि ''यह जगत् यथार्थ है और जीवात्मा तथा परमात्मा के बीच भेद है। जीवात्मा, ब्रह्म और जगत ये तीनों शाश्वत् यथार्थ है। तीनों का अपना अलग–अलग स्वतंत्र अस्तित्व है।''[118] द्वैतवाद धार्मिक दृष्टि से भक्ति का समर्थन करता है। यह शंकर के एकेश्वरवाद मत का घोर विरोधी था। शंकराचार्य के सिद्धांत का खंड़न करते हुए उन्होंने कहा कि यदि ''ब्रह्म और जीवात्मा एक ही है, तो किसी मनुष्य का ब्रह्म से साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना निरर्थक है, क्योंकि साक्षात्कार के लिए साधन करने वाला तो स्वयं ब्रह्म है।''[119] इन्होंने एक ओर शंकर का घोर विरोध किया, तो दूसरी ओर रामानुज के विशिष्टाद्वैत के भी समर्थक नहीं है। रोमिला थापर के शब्दों में ''मध्व के कुछ विचारों से ज्ञात होता है कि वह मालाबार के ईसाईयों से परिचित और संभवतः प्रभावित हुए थे। मध्व के अनुसार विष्णु अपने भक्तों पर अनुग्रह अपने पुत्र वायु देवता के माध्यम से करते हैं। यह विचार कट्टर हिंदू धर्म के विचारों से सर्वथा विपरीत है, परंतु ईसाई धर्म की 'होली घोस्ट' की धारणा से मिलता–जुलता है।''[120] मध्व को ईसाईयों से प्रभावित माना गया है। वायु देवता के माध्यम से वह अपने भक्तों के प्रयोजन सिद्ध करते हैं। एक अन्य मत में ''यहाँ ईश्वर की कल्पना पौराणिक विष्णु के रूप में की गई है और उसमें इतनी बात जोड़ दी गई है कि वे जब भी अवतार लेते हैं, तो वायु देवता उनके पुत्र बनते हैं। स्वंय मध्व को वायु देवता का अवतार माना गया है।''[121] वायु देवता को विष्णु का पुत्र मानना, इस दर्शन का ऐसा विषय है जो इसे अन्य दर्शनों से पृथक तथा ईसाईमत से प्रभावित बनाता है।

'भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव' पुस्तक में डॉ. ताराचंद मध्व के विषय में कहते हैं, ''द्वैतवाद की स्थापना मुख्यतः भागवत् पुराण पर आधारित थी। उनका उद्देश्य ईश्वर की स्वतंत्रता एवं भव्यता पर जोर देना था जिसे उनके पूर्ववर्ती विद्वानों ने कमजोर करके ईश्वर को ब्रह्माण्ड का मौलिक कारण बना दिया था। माध्व की अवधारणा के अनुसार ईश्वर वह सत्ताधारी है जो संसार पर शासन करता है और जिसकी कृपा मनुष्य को मुक्ति प्रदान करती है।''[122] ईश्वर को सर्वोच्च, सर्वसमर्थ, शक्तिमान मानने वाले माध्व ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों का खण्ड़न किया। डॉ. पी. जयरामन लिखते हैं, ''इन्होंने यज्ञविधान से पशु

हिंसा को हटाकर उसके स्थान पर आटे के बने हुए पशु की बलि का विधान निश्चित किया।''[123] आटे के पशु की बलि का विधान इस दर्शन की कोमलता और हिंसा विरोधी आचरण को प्रकट करता है। माध्वाचार्य जाति प्रथा और सामाजिक असमानताओं का भी विरोध करते थे। उनके अनुसार वेदों का अध्ययन करने की अनुमति ब्राह्मणों के साथ–साथ शूद्रों को भी होनी चाहिए। उन्होंने सभी को विष्णु की भक्ति करने पर बल दिया।

1.3.2.6.4 द्वैताद्वैत

निम्बार्क का मत द्वैताद्वैत मत कहलाता है। ''द्वैताद्वैत अर्थात् द्वैत और अद्वैत दोनों को मानने का सिद्धांत।''[124] भारतीय चिंतक दामोदरन कहते हैं, ''इसके अनुसार जीव (आनंद लाभ करले वाला), जगत् आनंद का साधन और ईश्वर तीनों अलग–अलग है। आत्मा की प्रकृति वस्तुगत यथार्थ है किंतु, ये दोनों ईश्वर पर निर्भर ही एकमात्र ईश्वर से स्वतंत्र हैं।''[125] शंकर का अद्वैत जिसके अनुसार ब्रह्म और जीव एक ही है। रामानुज के द्वैतवाद में ब्रह्म और जीव दोनों भिन्न है, जिसमें ब्रह्म सर्वोच्च सर्वशक्तिमान एवं विशिष्ट है एवं जीव उसका एक अंश मात्र है। वहीं निंबार्क का मत दोनों का मिला–जुला मत है, जिसमें जीव, जगत् एवं ईश्वर तीनों का अस्तित्व स्वतंत्र बताया गया है। ''निंबार्क का मत था कि भेद और अभेद दोनों ही यथार्थ है, उन्होंने कहा जीव का स्पष्ट अस्तित्व है, तो भी वह ब्रह्म पर निर्भर है, ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य की किरण सूर्य से अलग होती हुई भी, उस पर निर्भर होती है।'[126] इस मत के अनुसार जीव और ब्रह्म में भेद होते हुए भी दोनों में विलक्षण भेद है। ब्रह्म से संसार एवं जीव की भिन्नता और अभिन्नता दोनों समान महत्त्व की है।

निंबार्क संप्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता है राधा की उपासना। ''राधा–कृष्ण की उपासना निंबार्क से ही प्रारंभ हुई।''[127] निंबार्क के मत से ही प्रभाव ग्रहण कर परवर्ती उत्तर भारत में राधा को कृष्ण से भी बढ़कर माने जाने वाले राधावल्लभ और हरिदासी मतों का उदय हुआ।

1.3.2.6.5 शुद्धाद्वैत

शुद्धाद्वैत जिसका अर्थ है माया के बंधन से मुक्त। इस मत के प्रणेता 'वल्लभाचार्य' है। वल्लभाचार्य का सम्प्रदाय पुष्टिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। वल्लभ के शुद्धाद्वैत को शंकर के अद्वैत का विरोधी मानते हुए डॉ. पी. जयरामन, पुस्तक 'भक्ति के आयाम' में लिखते हैं, ''शंकर ने जहाँ माया से शबलित ब्रह्म को जगत् का कारण माना है, वहाँ वल्लभ ने माया से निर्लिप्त या विरहित; इस कारण शुद्ध ब्रह्म को जगत् का कारण माना है।''[128] कार्य और कारण दोनों प्रकार से ब्रह्म शुद्ध है माया रहित है। के. दामोदरन के अनुसार, ''आत्मा और पदार्थ दोनों ही ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति है। इनके द्वारा ब्रह्म अपने त्रिगुणात्मक सारतत्त्व –सत्, चित्त और आनंद को प्रकट करता है, जबकि स्वंय ईश्वर में कोई परिवर्तन नहीं होता।''[129] ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति को जगत् माना गया है।

वल्लभाचार्य का संप्रदाय पुष्टि मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। पुष्टिमार्ग में जीव को ईश्वर के प्रति अपना सर्वस्व अर्पण कर समस्त वासनाओं का त्याग करना पड़ता है।

संदर्भ सूची–

1. रामचंद्र वर्मा; संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर, चतुर्दश सं. संवत् 2065 वि., नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ.–644.
2. सत्यकेतु विद्यालंकार; भारतीय संस्कृति का विकास, सं. 1994, पी–11 प्रकाशक, श्री सरस्वती सरन, पृ.–15.
3. डॉ संतराम वैश्य; सूर की सांस्कृतिक चेतना एवं उनका युग बोध, क्लासिकल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 2.
4. डॉ सर्वेपल्लि राधाकृष्णन्; भारतीय संस्कृति कुछ विचार, सं. 2012, राजपाल एण्ड़ सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली–110006.
5. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, पहला सं. 1956, तीसरा सं. 2010, पुनर्मुद्रण 2012, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001.
6. रामजी उपाध्याय; भारतीय धर्म और संस्कृति, सं. 2012, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पृ.–1.
7. सोती वीरेन्द्र चन्द्र; भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, सं. 2010, राजपाल एण्ड़ सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली–110006, पृ.–2.
8. डॉ मंगलदेव शास्त्री; भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिक धारा), पांचवा सं. 2005, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड़, नयी दिल्ली–110003, पृ. 38–39.
9. बी.एन. पाण्डे; भारतीय संस्कृति (मुगल विरासतः औरंगजेब के फरमान), सं. 1993, हिंदी अकादमी, 235–ए, पद्म नगर, किशनगंज, दिल्ली–110007, पृ.–59.
10. सच्चिदानंद सिन्हा; संस्कृति विमर्श, प्रथम सं. 2001, द्वितीय परिवर्द्धित सं. 2014, वाग्देवी प्रकाशन, विनायक शिखर पॉलिटेनिक कॉलेज के पास, बीकानेर–334003, पृ.–62.
11. डॉ. देवराज; दर्शन धर्म–अध्यात्म और संस्कृति, चौथा सं. 2005, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड़, नयी दिल्ली–110003, पृ.–156.
12. राजमल बोरा; भारतीय भक्ति साहित्य, सं. 1994, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002, पृ.–89.
13. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, पहला सं. 1956, तीसरा सं. 2010, पुनर्मुद्रण 2012, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001, पृ.–58.
14. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ.–24.

15. शरदेन्दु; भारतीय संस्कृति के सामाजिक सोपान, सं. 2011, आर्य प्रकाशन मंड़ल, गाँधी नगर, दिल्ली–110031, पृ.–80.
16. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, पहला सं. 1956, तीसरा सं. 2010, पुनर्मुद्रण 2012, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001, पृ.–58, पृ.–39.
17. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–18.
18. रामविलास शर्मा; भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास, सं. 2001, साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली–110001, पृ.–325.
19. वही, पृ.– 325.
20. शरदेन्दु; भारतीय संस्कृति के सामाजिक सोपान, सं. 2011, आर्य प्रकाशन मंड़ल, गाँधी नगर, दिल्ली–110031, पृ.–28.
21. वही, पृ.–28.
22. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–31.
23. वही, पृ.–31.
24. शरदेन्दु; भारतीय संस्कृति के सामाजिक सोपान, सं. 2011, आर्य प्रकाशन मंड़ल, गाँधी नगर, दिल्ली–110031, पृ.–80.
25. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ.–22.
26. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, पहला सं. 1956, तीसरा सं. 2010, पुनर्मुद्रण 2012, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001, पृ.–58, पृ.–62.
27. शरदेन्दु; भारतीय संस्कृति के सामाजिक सोपान, सं. 2011, आर्य प्रकाशन मंड़ल, गाँधी नगर, दिल्ली–110031, पृ.–82.
28. सोती वीरेन्द्र चन्द्र; भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, सं. 2010, राजपाल एण्ड़ सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली–110006, पृ.–13.
29. वही, पृ.–13.
30. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–64.
31. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–36.

32. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–13.
33. डॉ. देवराज; दर्शन धर्म–अध्यात्म और संस्कृति, चौथा सं. 2005, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड़, नयी दिल्ली–110003, पृ.–22.
34. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–41.
35. वही, पृ.–41.
36. वही, पृ.–86.
37. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–26.
38. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–104.
39. हरिदत्त वेदालंकार; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, सं. 2008, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, पृ.–103.
40. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–68.
41. वही, पृ.–68.
42. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–104.
43. वही, पृ.–104.
44. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–73.
45. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ. –184.
46. वही, पृ.–185.
47. रामविलास शर्मा; भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास, सं. 2001, साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली–110001, पृ.–165.
48. वही, पृ.–167.
49. डॉ. शिवकुमार मिश्र; साहित्य, इतिहास और संस्कृति, सं. 2009, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–45.
50. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–115.

51. डॉ. भारतेश कुमार मिश्र, डॉ. सच्चिदानंद त्रिपाठी; भारतीय दर्शन, सं. 2011, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–93.
52. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–148.
53. हरिदत्त वेदालंकार; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, सं. 2008, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, पृ.–104.
54. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–120.
55. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–148.
56. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ.–29.
57. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–174.
58. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–122.
59. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ. –134.
60. वही, पृ.–135.
61. वही, पृ.–139.
62. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–122.
63. वही, पृ.–134.
64. हरिदत्त वेदालंकार; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, सं. 2008, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, पृ.–104.
65. वही, पृ.–104.
66. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–138.
67. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–252.

68. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ. –114.
69. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–149.
70. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–277.
71. हरिदत्त वेदालंकार; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, सं. 2008, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, पृ.–108.
72. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–141.
73. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–274.
74. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, पहला सं. 1956, तीसरा सं. 2010, पुनर्मुद्रण 2012, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001, पृ.–58, पृ.–219.
75. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ. –174.
76. डॉ. भारतेश कुमार मिश्र, डॉ. सच्चिदानंद त्रिपाठी; भारतीय दर्शन, सं. 2011, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–153.
77. जवाहरलाल नेहरू; हिन्दुस्तान की कहानी, सं. 2011, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–213.
78. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–282.
79. डॉ. भारतेश कुमार मिश्र; डॉ. सच्चिदानंद त्रिपाठी, भारतीय दर्शन, सं. 2011, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–153.
80. वही, पृ.–183.
81. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–176.
82. डॉ. भारतेश कुमार मिश्र, डॉ. सच्चिदानंद त्रिपाठी; भारतीय दर्शन, सं. 2011, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–62.

83. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–180.
84. वही, पृ.–223.
85. जवाहरलाल नेहरू; हिन्दुस्तान की कहानी, सं. 2011, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–211.
86. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–167.
87. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–217.
88. वही, पृ.–224.
89. डॉ. भारतेश कुमार मिश्र, डॉ. सच्चिदानंद त्रिपाठी; भारतीय दर्शन, सं. 2011, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–97.
90. जवाहरलाल नेहरू; हिन्दुस्तान की कहानी, सं. 2011, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–212.
91. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–158.
92. डॉ. भारतेश कुमार मिश्र, डॉ. सच्चिदानंद त्रिपाठी; भारतीय दर्शन, सं. 2011, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली, पृ.–96.
93. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–165.
94. वही, पृ.–178.
95. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–63.
96. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–179.
97. वाचस्पति गैरोला; भारतीय दर्शन, सं. 2009, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–183.
98. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–183.
99. वही, पृ.–181.
100. वही, पृ.–185.
101. वही, पृ.–185.

102. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–78.
103. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–187.
104. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–78.
105. सं. हरिश्चन्द्र वर्मा; मध्यकालीन भारत भाग–1(750ई.–1540ई.), तृतीय सं. 1997, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, मॉडल टाउन, दिल्ली–110009, पृ.–89.
106. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ. –103.
107. रामधारी सिंह दिनकर; संस्कृति के चार अध्याय, पहला सं. 1956, तीसरा सं. 2010, पुनर्मुद्रण 2012, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्ड़िग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–211001, पृ.–58, पृ.–333.
108. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ. 168–169.
109. रामजी उपाध्याय; भारतीय धर्म और संस्कृति, सं. 2012, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1, पृ.–61.
110. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–261.
111. डॉ पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, प्रथम सं. 2003, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–169.
112. वही, पृ.–172.
113. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–265.
114. वही, पृ.–265.
115. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ.–197.
116. डॉ पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, प्रथम सं. 2003, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–176.
117. वही, पृ.–178.

118. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–270.
119. वही, पृ.–270.
120. रोमिला थापर; भारत का इतिहास, पहला सं. 1975, पच्चीसवीं आवृति 2012, राजकमल प्रकाशन, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, पृ.–197.
121. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–81 उद्धृत (G.A Grierson in Encyclopedia of Religion And Ethics, vol. viii, P-233)
122. डॉ. ताराचंद; भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव, अनुवादक : सुरेश मिश्र, सं. 2006, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, बी–7, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली–110092, पृ.–101.
123. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, प्रथम सं. 2003, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–171.
124. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय; भारतीय दर्शन, पहला सं. 1965, पहला पेपरबैक 2004, दूसरी आवृति 2010, राजकमल प्रकाशन, 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–110002, पृ.–80.
125. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–273.
126. वही, पृ.–274.
127. डॉ. पी. जयरामन; भक्ति के आयाम, प्रथम सं. 2003, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002, पृ.–183.
128. वही, पृ.–191.
129. के. दामोदरन; भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, रानी झांसी रोड़, नई दिल्ली–110055, पृ.–274.